

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

शीलपाहुड प्रवचन

मूल रचियता:

पूज्य पाद श्री कुन्दकुन्दाचार्य

प्रवक्ता:

अध्यात्म योगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्री मत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक:

सुमेर चन्द जैन 15, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

प्रकाशक:

मन्त्री, श्री सहजानन्द भास्त्र माला
185-ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

द्वितीय वृत्ति 1000)

मूल्य-अठारह रूपया

(1996

प्रकाशकीय

धर्मप्रेमी बन्धुवो ! आपके करकमलोमें जो ग्रन्थ आ रहा है वह पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित शीलपाहुडपर पूज्य श्री गुरुवर्य्य अध्यात्मयोगी सहजानन्द (मनोहर जी वर्णी) महाराज द्वारा प्रवचनोका ग्रंथ है। इसके मूल गाथारचयिता पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यका नाम मंगलपाठ श्लोकमें लिया जाता है। ये अपने समयमें महान् विवादवसरके कालमें दिगम्बर जैन धर्मकेआधारस्तम्भ थे। अध्यात्मग्रंथो में समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, दर्शनपाहुड सूत्रपाहुड आदि अनेक ग्रंथ श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवके है उन्ही में यह शीलपाहुड ग्रन्थ है। इस मूल ग्रन्थपर पूज्य श्री अध्यात्म-योगी सहजानन्द महाराज ने तत्वोके तथ्य रहस्य का प्रतिपादन करते हुए प्रवचन किये है।

आत्माके अनादि अनन्त चैतन्यरूप शीलस्वभावको जानकर विषय कषायरूप कुशीलसे उपयोग को हटाना और इस शीलमें अपने उपयोग को लगाना शीलपालन बताया गया है। इस पारमार्थिक शीलपालनसे मोक्षमार्गके अनुकूल व्रत तप संयम ध्यान आदि सब सम्यक् सिद्ध होते है। शीलके बिना मुक्ति प्राप्त नही होती। शीलकी रक्षा करने वाले सम्यक्त्व'विशुद्ध दृढ चारित्रवान विषयोसे विरक्तचित्त वाले भव्य पुरुषोका निर्वाण होना सुनिश्चित है।

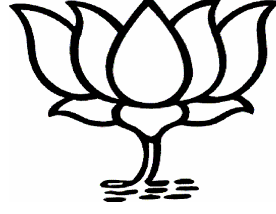
पूज्यश्री सहजानन्दजी महाराजने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्त्री, पंचाध्यायी, मोक्षशास्त आदि 60-65 आर्ष ग्रंथोपर प्रवचन किये तथा स्वरचित सहजानन्दगीता, अध्यात्मसूत्र, अध्यात्मसहस्त्री आदि ग्रंथोपर भी प्रवचन हुए जो शोर्टहेण्डमें अक्षरशः संकलित हुए। समस्त प्रवचनग्रंथ 280 है इनके अतिरिक्त 275 ग्रंथ स्वतंत्र विरचित है जिनमें अभी 50-55 ग्रंथ अपूर्ण है। कुल 555 ग्रन्थोकी रचना गुरुवर्य्य सहजानंद जी महाराजके द्वारा हुई है। समस्त ग्रंथ नयविभागपूर्वक विषयके स्पष्ट प्रकाशक है एवं अभेदशैलीसे अनुभवके प्रयोजक है, साथ ही अनेक ग्रंथ जीवकाण्ड कर्मकाण्ड लब्धिसार, क्षपणसार, धवला आदि महान् ग्रंथोकी कुञ्जजीरूप है। अध्यात्मसिद्धान्त, अध्यात्मसूत्र, अध्यात्मसहस्त्री जैसे ग्रंथोके अध्ययनसे निर्बाध स्पष्ट वस्तुस्वरूप व अध्यात्मतत्त्व प्राप्त होता है।

महाराजश्रीने जो ज्ञानदान दिया है उससे समाज उन्नत नही हो सकता। जिज्ञासु बन्धुवोसे निवेदन हे कि वे सहजानंदसाहित्यका अध्ययन करके अलौकिक सत्य आनन्द प्राप्त करे ॥ विज्ञेष्वलमधिकेन ॥

सुमेरचन्द जैन

15-प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

श्लोक – अनुक्रम



श्लोक	नं०	पृष्ठ	श्लोक	नं०	पृष्ठ
अरहंते सुह भक्ती	40	30	णिद्दुद्धअट्टकम्मा	35	26
आदेहि कम्मंगठी	27	19	ताव ण जाणदि णाणं	4	3
उदधीव रदणभरिदो	28	20	तुसधम्मतवलेण य	24	17
एवं बहुप्पयारं	33	23	दुक्खेणेयदि णाणं	3	2
कुमदकुसुदप्पसंसा	14	10	पुरुसेण वि सहियाए	26	18
जइ णाणेण विसोहो	31	21	रुवसिरिगब्बिदाणं	15	10
जह कंचणं विसुद्ध	9	6	लावण्णसीलकुसलो	36	27
जह विसयलुद्धविसदो	21	14	वट्टेसुय खंडेसु य	25	18
जह विसयलोलएहि	30	21	वायरणछंदवइसे	16	11
जाए विसयविरत्तो	32	22	बारि एक्कम्मि य जम्मे	22	15
जिणवयणगहिदसारा	38	28	विसएसु मोहिदाणं	13	9
जीवदया दम तच्चं	19	12	वीरं विसालणयलं	1	1
जे पुण विसयविरत्ता	8	6	सम्मतणाणदंसण	34	25
णरयेसु वेयणाओ	23	15	सब्बगुणखीणकम्मो	39	30
णाणस्स णत्थि दोसो	10	7	सब्बे कि य परिहीणा	18	11
णाणेण दंसणाणे य	11	8	सीलगुणमंडियाण य	17	11
णाणं चरितत्हीण	5	4	सीलस्य य णाणस्य य	2	2
णाण चरित्तसुद्ध	6	5	सीलं तवो विसुद्ध	20	12
णाणं ज्ञाणं जोगो	37	27	सीलं रक्खंताणं	12	8
णाणं णरुण णरा	7	5	सुलहाण गद्दहाण य	29	21

विषय—सूची

गाथा नं०	विषय	प्रारम्भ पृष्ठ
1—श्री कुन्दकुन्दाचार्य को श्रीवीरनमनपूर्वक शीलप्रतिपादनप्रतिज्ञा		1
2—शील व ज्ञानमें अविरोध, शील बिना विषयो द्वारा ज्ञानका घात		2
3—ज्ञानकी ज्ञानभावनाकी व विषयत्यागकी उत्तरोत्तर दुर्लभता		2
4—विषयरत जीवके ज्ञानाज्ञप्ति, ज्ञानज्ञप्ति बिना कर्मका अक्षय		3
5—चरित्रहीन ज्ञान, सम्यक्त्वहीन लिङ्ग व संयमहीन तपकी व्यर्थता		4
6—चारित्रशुद्ध ज्ञान, ससम्यक्त्व लिङ्ग व संसयम तपका महाफल		5
7—ज्ञान पाकर भी विषयभावमें आसक्तजनोके चतुर्गतिभ्रमणकष्ट		5
8—ज्ञानी विषयविरक्त ज्ञानभावनासहित तपयुक्त जनोकी मुक्ति		6
9—निर्मल ज्ञानजलद्वारा जीवकी विशुद्धताका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन		6
10—ज्ञानीके विषयरत होनेमें ज्ञान दोषी न होकर कुपुरुषत्व दोषी		7
11—ससम्यक्त्व ज्ञानदर्शनतपचारित्रसे चारित्रशुद्ध जीवका निर्वाण		8
12—शीलरक्षक सम्यक्त्वशु दृढचरित्र विषयविरक्त पुरुषोका निर्वाण		8
13—सन्मार्गनिरूपकोको मार्गप्राप्ति, उन्मार्गियोका ज्ञान निरर्थक		9
14—बहुशास्त्रज्ञ कुमतकुशास्त्रप्रशंसकोके भी आराधनाकी अपात्रता		10
15—शीलरहित रूपकान्तिलक्ष्मीयुक्त जनोके भी जन्मकी निरर्थकता		10
16—व्याकरण छंद श्रुत आदिका ज्ञान होनेपर भी शील ही उत्तम		11
17—शीलगुणमण्डित पुरुषोकी देवो द्वारा भी प्रियता व पूज्यता		11
18—लौकिकगुणहीन होनेपर भी सुशील पुरुषोकी जीवनश्लाध्यता		11
19—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप आदि शीलपरिवारोका नामनिर्देश		12
20—निर्मलतप दर्शनज्ञानशुद्धि विषयविरति आदिकी शीलरूपता		12
21—शीलप्रतिपक्ष विषयविषकी आत्मघात करनेमें महाप्रबलता		14
22—विषयविषपरिहत जीवोका संसारवनमें अनेक भवोंमें मरण		15
23—विषयसक्त जीवोको नरकादि गतियोंमें दुःख व दुर्भाग्यप्राप्ति		15
24—तपस्वी शीलवंत पुरुषोद्वारा विषयोका विरतिपूर्वक दूर फेंकना		17
25—सुन्दर सर्वाङ्गोके प्राप्त होनेपर सर्वमें शीलकी ही उत्तमरूपता		18
26—कुमतमूढ विषयासक्त कुशील जीवोका संसारपरिभ्रमण		18
27—जीवद्वारा विषयरागसे कर्मग्रथिका बांधना व शीलद्वारा छेदना		19

28-शीलसे ही तप विनयादि गुणोकी शोभा व निर्वाणकी प्राप्ति	20
29-शीलवंत पुरुषो द्वारा ही मोक्षनामक चतुथं पुरुषार्थकी प्राप्ति	21
30-शील बिना ज्ञानसे मोक्षकी असंभवताका सोदाहरण समर्थन	21
31-शील बिना ज्ञानसे ही भावशुद्धिकी असंभवताका सोदाहरण समर्थन	21
32-शीलप्रभावसे विषयविरंत ज्ञानीका नरकसे आकर तीर्थकर होना	22
33-शीलसे अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दमय मोक्षपदकी प्राप्ति	23
34-आत्मशीलाश्रयसे ही सम्यक्त्वादि पंचाचारो द्वारा कर्मदहन	25
35-जितेन्द्रिय धीर विषयविरत पुरुषोद्वारा कर्मदहन व मोक्षलोक	26
36-शीलवंत साधुवो की लोकप्रियता व महनीयता	27
37-सम्यक्त्व ज्ञान ध्यान आदि शीलविकाससे रत्नत्रयका लाभ	27
38-जिनवचनसार ग्रहणसे शीलसलिलस्नात जनोकी मोक्षलाभ	28
39-आत्मशीलविकाससे दर्शनज्ञानचारित्रतप आराधनाकी प्राप्ति	30
40-विषयविरागरूप शीलसहित ज्ञानसे सर्वसिद्धि	30

शीलपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री 105 क्षु0 मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

वीरं विशालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पावं ।

तिविहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥ 1 ॥

(1) विशालनयन वीरप्रभुको नमस्कार कर शीलपाहुड ग्रन्थ बनानेका संकल्प— यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित शीलपाहुड नामका ग्रंथ है। यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य मंगलाचरण पूर्वक इस ग्रंथमें क्या कहेंगे, उसका प्रतिज्ञापन कर रहे हैं। मैं वीर प्रभुको नमस्कार करके शील गुणोको कहूँगा। इस ग्रंथ में शील ओर गुणोका वर्णन है। शीलके मायने है आत्माका स्वरूप स्वभाव और उस स्वभावकी दृष्टि रखना, यह तो है शील और गुणके मायने है, उस आत्मस्वभावको पानेके लिए जो आन्तरिक परिणति चलती है ज्ञानरूप वह है गुण। तो शील और गुणके वर्णन के समय प्रसंगमें शील गुणसे परिपूर्ण यहाँ वीर प्रभुको नमस्कार है जिसके दो विशेषण दिए हैं—महावीर भगवान विशालयन है जिसके नेत्र बड़े हैं उसे कहते हैं वि'गालयन। नेत्रोका बहुत बड़ा होनेसे कोई प्र'साका अधिक सम्बंध नहीं है। यद्यपि छोटे नेत्र होना यह पुण्यका सूचक नहीं, नेत्र सही परिमाणमें होता है और उसे वि'गाल कहते हैं, पर यहाँ वि'गालयन कहनेसे कोई आध्यात्मिक अर्थ गर्भित है। जिस ज्ञाननेत्रके द्वारा भगवान जानते हैं वह ज्ञानरूपी नेत्र वि'गाल है। तब कोई पूछता कि कितना वि'गाल है भगवानका नयन? तो जितना लोक और अलोक है उतना बड़ा भगवान नेत्र है। और जब भगवानका एक नेत्र इतना बड़ा है तो दूसरा भी बड़ा होगा? — नहीं, दो नेत्र हैं ही नहीं भगवानके। एक केवल ज्ञानरूपी नेत्र है वे हैं, क्योंकि अरंहत भगवानके अभी शरीर साथ लगा हुआ है, और तीसरा नेत्र है केवलज्ञान। तो केवलज्ञानरूपी नयन जिसके वि'गाल है ऐसे महावीर प्रभुको नमस्कार करके, वि'गालयन वि'गेषण का यह अर्थ है।

(2) रक्तोत्पलकोमलसमपाद वीर प्रभुको नमस्कार कर शीलपाहुडकी रचना का प्रारम्भ— इस गाथामें वीरप्रभु का दूसरा विशेषण दिया है कि लाल कमलके समान कोमल जिनके चरण हैं अर्थात् एक पुण्यवानीकी दृष्टि से शरीर की जो शोभा है उसको लक्ष्य लेकर कहा है। पैर भी लाल हैं, यह तो एक सामान्य अर्थ है, पर इस ही में एक आध्यात्मिक अर्थ है—रक्त मायने लाल भी है ओर रक्त मायने होता है रागादिक विकारसे युक्त। ऐसा जो आत्मपरिणाम है उसे भी रक्त कहते हैं। और उसको उत्पल कर दिया मायने दूर कर दिया, उखाड़ दिया, अतएव जिसके कोमल वचन है अर्थात् रागके दूर होनेसे वीतरागता आनेके कारण जिसकी दिव्यध्वनि कोमल हित मित मधुर है, जिसको सुनकर प्राणी अपने संकट दूर करते हैं। तो ऐसे महावीर प्रभुको नमस्कार करके तीनों योगसे मैं प्रणाम करता हूँ। मनकी सम्हाल करके वचनकी सम्हाल करके, शरीरकी सम्हाल करके मैं प्रणाम करता हूँ और प्रणाम कर शील गुणका वर्णन करता हूँ। वास्तविक नमन आत्मस्वरूपका बोध हुए बिना नहीं हो पाता। आत्मस्वरूपका परिचय हुए बिना तो भगवानके

स्वरूपका भी ज्ञान नहीं होता। भले ही शब्दोंसे कहते रहे और कुछ-कुछ पर्यायकी भी महिमा ज्ञात होती रहे, वे वीतराग हैं, रागद्वेषरहित हैं, सर्वज्ञ हैं, पर उन सबको भावभासना तब तक न हो पायगी जब तक आत्माके शीलका परिचय न हो। आत्माके स्वभावको जब तक न समझ लिया जाय तब तक प्रभुकी प्रभुता भी भली-भति नहीं ज्ञात हो सकती। आत्माका स्वभाव ही है यह कि वह जो सत् है, सबको जाने, सर्व सत् उसमें झलके, ऐसा मेरा स्वरूप ही है, और उपाधि जब झलक गई, आवरणकर्म दूर हो गये यही स्वभाव, यही शील पूर्णरूपमें प्रकट हुआ है, अतः जिस शीलगुणके प्रतापसे भगवान् स्वामी संकटहीन हुए हैं उनको प्रणाम करके मैं शीलगुणका वर्णन करूंगा।

शीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहि णिद्धिदो ।

णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ।। 2 ।।

(3) ज्ञान और शीलमें विरोधाभाव व एकत्र अवस्थान— इस गाथा में यह कह रहे हैं कि शील और ज्ञान इन दोनोंमें विरोध नहीं है, ऐसा ज्ञानीजनोने बताया है। जहाँ शील हो वहाँ ज्ञान न हो, जहाँ ज्ञान हो वहाँ शील न हो ऐसा नहीं है। ज्ञान और शील एक जगह रहते हैं। शील के बिना विषय कषाय आदिके परिणाम ज्ञानको नष्ट करते हैं अर्थात् ज्ञानको मिथ्यात्व रागद्वेषमय बनाते हैं। यहाँ शीलका अर्थ है प्रकृति, स्वभाव, आदत और ज्ञानका अर्थ है जानना। ज्ञान सब जीवोंमें पाया जाता है और शील शक्तिसे सबमें पाया जाता है और व्यक्तिकी अपेक्षा याने प्रकटपनेकी अपेक्षा यदि रागद्वेषमय ज्ञान है तो वहाँ भी शील है, मगर वह शील कुशील है। जहाँ रागद्वेष अज्ञानभाव नहीं है वहाँ शील है, वहाँ सुशील है। तो सामान्य रूपसे देखे तो ज्ञान भी सदा रहता है और शील भी सदा रहता है। भले ही वह शील एक कुशीलके रूप में प्रकट है, पर ज्ञान भी वहाँ है और कुशील भी है, यो भी वहाँ अज्ञानदशा में शीलका और ज्ञानका विरोध नहीं रहा। जब ज्ञानदशा रही, रागद्वेषसे रहित परिणाम हुए वहाँ ज्ञान है, शील है, इसमें तो किसीको संदेह भी नहीं हो सकता। सो जब अज्ञान मिथ्यात्व रागद्वेषका सम्बंध है और उस समय में कुज्ञान ज्ञानकी जो स्थिति है तब उसके साथ शील आदत कुशीलके रूपमें चल रही है और जब निरूपाधि हो जाता है ज्ञान, तब वहाँ यह शील पूर्ण शील स्वभावके रूपमें प्रकट होता है। यों ज्ञानस्वभावमें अनादि कर्मके संयोग के कारण जो मिथ्यात्व रागद्वेषका परिणाम है सो यह ज्ञानकी प्रकृति बन गई कुशीलरूप और जब भेदविज्ञानके प्रतापसे सर्व संसारप्रकृतिके रूपमें चलता है। और ज्ञान हो जाने पर यह ज्ञान मोक्षमार्ग की प्रकृतिरूपसे चलता है, फिर भी कुशील की मुख्यता कही नहीं की जाती। ध्यान के लिए प्रयोगके लिए मननके लिए शीलका मायने स्वभाव सुशीलका ही आदर हाता है। तो यहाँ अध्यात्मदृष्टिसे, मोक्षमार्गको दृष्टि शील नाम है आत्माके स्वभावका।

(4) आत्माको ज्ञानमात्र निरखकर परखनेमें ज्ञानशीलताका दर्शन — आत्माका स्वभाव है ज्ञानमात्र। ज्ञानमात्र स्वरूपमें ज्ञानका ही काम चलते रहना, ज्ञानमात्र ज्ञातादृष्टा रहे, यही है शीलका पालन। तो आत्माके इस शीलका याने स्वभावका इसमें वर्णन होगा और शीलके प्रति बुद्धि रखने से जो गुण जगते हैं, कार्य होते हैं, परिणाम होते हैं वे कहलाते हैं गुण। तो शीलका और गुणोका इस ग्रंथमें वर्णन किया जायेगा। इस आत्माको ज्ञानमात्र रूपमें लिखना है, चाहे कुछ भी अवस्था हो, संसारमें भ्रंजी ज्ञानमात्रके रूपसे आत्माको देखिये, ज्ञानकी स्थितिमें भी आत्माको ज्ञानरूपसे देखे, तो जो गड़बड़ी है, रागद्वेषादि विकार हैं वे सब कुछ अलग नहीं जंचे, किन्तु ज्ञानकी ही ऐसी संसारप्रकृति हुई है। तो यही संसारप्रकृति कुशील कहलाती है। तो हर स्थितियोंमें आत्मा ज्ञानमात्र है, ज्ञान

ही जिस तरहका उपयोग बनाता है, उस प्रकारके ज्ञान परिणाममें परिणमता है, सो अज्ञान अवस्थामें यह ज्ञान ही क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, रागद्वेष, ये सारी बातें ज्ञानमें पर्यायमें पड़ी हुई है और जब यह उपाधि नहीं रहती, केवल आत्मा ज्ञान—ज्ञानमात्र रहता है तो यह ज्ञान फिर अपने सही शीलसे, सही प्रकृतिसे चलने लगता है। सो ऐसा शील और गुण ये दोनो साथ—साथ हर एकमें पाये जाते हैं। यहाँ साधुके शील और गुणका वर्णन किया जा रहा। सो इस ग्रंथ में उन शील और गुणोका वर्णन चलेगा। यह अष्टपाहुड नामसे प्रसिद्ध है, छोटे छोटे पाहुड होनेसे एक जगह उनका वर्णन किया गया है। उन 8 पाहुडोमें से यह शीलपाहुड अंतिम पाहुड है। जैसे समयसारमें 7 तत्वोका वर्णन करनेके बाद सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकारी आत्माके स्वभावपर, एकत्वपर दृष्टि करायी गई, क्योंकि जो प्रयोजन होता है सो उस प्रयोजन के बारेमें बहुत कुछ वर्णन बीचमें किया जाता है, पर उस विशाल वर्णनके बाद फिर प्रयोजनकी बात थोड़े शब्दोंमें कही जाती है। तो ऐसी मोक्षमार्गके प्रसंगमें बहुत कुछ वर्णनके बाद अन्तमें आत्माके शील स्वभावका वर्णन किया गया है। अब इस शील और गुणोके विषयमें आगे विशेष विवरण चलेगा।

**दुःखेणेयदि गाणं गाणं गारुण भावणा दुःखं ।
भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जए दुःख ॥ 3 ॥**

(5) ज्ञानकी दुर्लभता व ज्ञानसे भी अधिक ज्ञानभावनाकी दुर्लभता— प्रथम बात तो यह है कि ज्ञानका पाना ही बड़ा कठिन है। संसारमें कितने जीव हैं? मनुष्योकी संख्या तो सभी गतिके जीवों में थोड़ी है। कुछ मनुष्योको छोड़कर, कुछ ऊँचे देवोको छोड़कर प्रायः सर्वत्र अज्ञानदशा छायी है, भले ही कुछ सम्यग्दृष्टि सभी गतियोंमें होते हैं, मगर ज्ञानकी विशेषता सब जगह नहीं मिलती। देखा! यह कभी एकेन्द्रिय था तो उसका कितनासा ज्ञान? दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पांचइन्द्रिय वाला हुआ, असंज्ञी रहा तो वहाँ कितना सा ज्ञान? मनुष्योमें भी कौन कितना ज्ञान रखता है, ज्ञानकी प्राप्ति बहुतही दुर्लभ है। इसके विषयमें तो हा है— 'धन कन कंचन राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।' धन हो, स्वर्ण हो, चांदी हो, वैभव हो, राजपाट हो, कुछ भी अन्य बात हो वहसब सुलभ है। 'दुर्लभ हे संसारमें एक यथार्थ ज्ञान।' संसारमें यदि कोई दुर्लभ है तो यथार्थ ज्ञान दुर्लभ है। ज्ञानोमें भी दुर्लभ ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। जैसा जो पदार्थ है वैसा ही वह ज्ञानमें आये तो वह अशान्त नहीं रहता। सीधा सच्चा मार्ग मिलता है, इस कारण यथार्थ ज्ञान है। जैसा जो पदार्थ है वैसा ही वह ज्ञानमें आये तो वह अशान्त नहीं रहता। सीधा सच्चा मार्ग मिलता है, इस कारण यथार्थ ज्ञानका पाना बहुत दुर्लभ है। ज्ञान भी प्राप्त कर लिया तो उसकी भावना करना बड़ा कठिन है। जैसे आत्माके विषयमें कुछ ज्ञान बनाया यह मैं अमूर्त हूँ, अपने स्वरूपास्तितव मात्र हूँ, इसका अन्य पदार्थोसे कुछ भी सम्बंध नहीं, इसका सर्वस्व यह ही है, ज्ञान कर लिया, पर ऐसी भावना बनी रहे, ऐसा ख्याल, ऐसी दृष्टि बनी रहे, उपयोग इस निज सहज यथार्थ स्वरूप की और रहे, यह बात बड़ी कठिन है। जब तक ज्ञानभावना नहीं बनती है तब तक पाये हुए ज्ञानका विश्वास नहीं रहता। योग्य क्षयोपशम है, पर वह रहे, बढेगा, प्रगतिशील होगा इसका कुछ विश्वास नहीं। कारण यह है कि ज्ञानभावनाके द्वाराही ज्ञानका ओर विकास बढता है, ज्ञानभावना जिसके नहीं है तो एक जानकारी मात्रसे वह उत्पत्ति न कर पायेगा। तो कभी जान भी लिया, ज्ञान भी पाया तो अब ज्ञानकी भावना बनाये रहनी बहुत कठिन है। आज जितना संसारमें दुःख है मनुष्यो को सभी को वह ज्ञानभावनाके न होनेसे कष्ट है। कष्ट तो भ्रमसे चल रहा है। बाहरी पदार्थ मेरे कुछ नहीं है, फिर भी बाह्य पदार्थोसे ही लगाव बना रहे तो यह प्राकृतिक बात है कि उसको कष्ट ही

होगा। भ्रम समाप्त तो कष्ट समाप्त ज्ञानकी यथार्थता अनुभवमे आये, फिर वहाँ कष्टका क्या काम? सो ज्ञानभावना बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होती है।

(6) ज्ञान और ज्ञानभावनाकी दुर्लभतासे भी अधिक विषयविरक्तिकी दुर्लभता— किसी जीवने कुछ ज्ञान भी कर लिया, ज्ञानकी कुछ भावना भी बनती है, लेकिन विषयोसे विरक्ति पाना बहुत कठिन बात है, यों कहो कि ज्ञान और ज्ञानभावनाका फल है विषयोसे विरक्ति हो जाना। सो विषयोसे विरक्ति जब तक न मिले तब तक ये सब लाभ भी कुछ लाभ नहीं है। हाँ इतना लाभ विषयोसे विरक्ति हो जाना। सो विषयोसे विरक्ति जब तक न मिले तब तक ये सब लाभ भी कुछ लाभ नहीं है। हाँ इतना लाभ आवश्यक है कि ज्ञानभावना है तो उसका संस्कार रहेगा, तो आज नहीं तो कभी हम उद्धार का मार्ग पा लेंगे। पर जब भी उद्धारके मार्गमें बढ़ेंगे तो विषयो विरक्तिपूर्वक ही बढ़ सकते हैं। जब तक जीवको भेदविज्ञान नहीं हुआ तब तक उसका मन स्वच्छंद डोलता है, बड़ी-बड़ी साज श्रृंगार शोभाकी चीजोंमें वह मन बहलाता है। वह शान्तिका मार्ग नहीं पा सकता। तो सर्व श्रेयोंमें श्रेय बस यही सहज आत्मस्वरूप है जो सहजसिद्ध है, जहाँ बनावट रच नहीं है, ऐसा कारणसमयसाररूप अपना स्वभाव अनुभावना यह है बहुत उच्च काम इस जीवनमें। तो ज्ञान पाया, ज्ञानकी भावना भी पायी किन्तु विषयोसे विरक्ति पाना बहुत कठिन है। तो हमें शिक्षा यह लेना है कि अपने मे उत्कृष्ट ज्ञानभावना बनायें और विषयोसे विरक्ति होनेका लक्ष्य बनाकर उस ज्ञानभावनासे अपनेको पवित्र बनाये।

तावण जाणदि णाणं विसयवलो जाव वट्टए जीवो।

विसए विरत्तमेंत्तो ण खवेइ पुराइसं कम्मं।। 4।।

(7) विषयानुराग रहते हुए यथार्थ ज्ञान होनकी असंभवता— जब तक इस जीवपर विषयका बल बढा-चढा है तब तक उस जीव में शुद्ध सही ज्ञानकी वृत्ति नहीं होती। कार्य करना है अपने स्वरूपमें मग्न होनेका। और यह कार्य ज्ञान द्वारा ज्ञानको ज्ञानमें बनाये रहनेके द्वारा साध्य है। आत्म मग्नता अन्य विधिसे नहीं होती। जो अनेक प्रकारके तपश्चरण बताये हैं वे तपश्चरण विषय कषायकी खोटी वासनाओको नष्ट करने के लिए हैं। आत्ममग्नता तो ज्ञानमग्नतासे ही संभव है। उसका कोई दूसरा उपाय नहीं है। चरणानुयोगमें जितने भी बाह्यक्रियाये हे उनके किए बिना आगे बढ़ न सके यह बात तो ठीक है, किन्तु जो क्रियाओपर ही ऐसी दृष्टि रखे है कि ऐसी चेष्टाके बलपर मैं मोक्षमार्ग में बढूँगा तो वह नहीं सकता। तो ज्ञानमें ज्ञानही समाया हो यह स्थिति चाहिए आत्मकल्याण के लिए सो जिसका चित्त, जिसका उपयोग विषयवासना में ही बर्तता रहे उसको यह ज्ञान कभी प्राप्त नहीं हो सकता। सो जब तक विषयकी और बरजोरी इस जीवपर चल रही है तब तक वह जानता नहीं है, उसका ज्ञान सही दिशामें नहीं है।

(8) ज्ञानानुभवशून्य अज्ञानी जनकी बाह्यविषयविरक्तिमात्रसे कर्मविनाशकी असंभवता— कोई विषयसे विरक्ति मात्र रहे, इतनेसे कोई पूर्वबद्ध कर्मका क्षय नहीं कर सकता। शुद्ध ज्ञान साथमें हो तब कर्मोंका क्षय होता है। अज्ञानमें भी तो विषयोसे भी तो, कषायोसे भी तो हटना है। जहाँ यह श्रद्धा आयी, दृष्टि बनी कि इन पञ्चचेन्द्रियके विषयो को छौडनेसे, त्यागनेसे धर्म होता है तो उसकी दृष्टि बाह्य विषयो तक रही, बाह्य विषयोसे हटने तक रही। अभी वह मोक्षमार्गका पात्र नहीं है। उसके यह चित्त में नहीं है कि इन इन्द्रियविषयोसे हटना किस कार्यके लिए करना पड़ता है। बाह्य से तो हट गया विषयोसे, मगर विषयोसे हटनेका प्रयोजन जब तक अनुभवमें न उतरे तब तक वह कर्मोंका क्षय नहीं

कर सकता। जीव उपयोग स्वरूप है और यह उपयोग क्रमसे चलता है। छद्मस्थ का उपयोग एक साथ सर्व पदार्थोंको नहीं जान पाता। तो जब छद्मस्थ का उपयोग क्रमसे चलता है और उसका उपयोग किसी इन्द्रियके विषयमें लगा हुआ है तो जहाँ उपयोग लगा है उस ही रूप वह आत्मा होता है। तो जबि विषयोकी और उपयोग लगा हो तो वह आत्मा भी अपवित्र है। विषयोकी और उपयोग जिसका लगा है उसका ज्ञानस्वरूप की और उपयोग नहीं लगा यह तो बिल्कुल सिद्ध है। सो जिसपर विषयबल चढा हुआ है वह ज्ञानस्वरूप अंतस्तस्व को नहीं पा सकता। सो जब विषयोमें चित्त है तब ज्ञानकी वृत्ति नहीं जग रही है, क्योंकि विषयोमें चित्त रहेगा तो नियमसे विषयके साधनोपर तो स्नेह जगेगा और विषयोकी बाधावो पर द्वेष जगेगा। तो जहाँ आचरण ही बिगड़ा, रागद्वेष ही बन गए तो वहाँ ज्ञान अपने सही रूप में नहीं ठहर सकता। यह एक धर्म मार्ग में मूल कार्य है। तो अपने यथार्थस्वरूप को जान लें आकाश की तरह निर्लेप, किन्तु चैतन्यगुणमय यह आत्मतत्त्व है, इसका जिसने ज्ञान नहीं किया, अनुभव नहीं किया तो वहाँ उपयोग बाहरी पदार्थोंमें ही रहेगा। सो जिसका उपयोग विषयमें रम रहा है, ज्ञान की और नहीं है तो जो विषयो को न त्याग सके वह तो कहलाता है वहाँ कुशील और जो विषयो को त्यागकर ज्ञानकी भावना करेगा वह कहलायेगा सुशील।

णाणं चरित्तहीणं लिगग्गहणं च दंसणविहूणं ।

संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ।। 5 ।।

(9) चारित्रहीन ज्ञान की निरर्थकता – ज्ञान तो चारित्रहीन हो और निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेषका ग्रहण करना, सम्यक्त्वरहितके हो और बड़े-बड़े दुर्धर तप संयमसे रहित हो तो ऐसे पुरुषका जो कुछ भी आचरण है वह सब निरर्थक है। ये तीन बातें अपनेमें होनी चाहिएं । पहली बात—चारित्रसहित ज्ञान हो, जितना सुख शान्ति अनुभूत होती है वह सब ज्ञानभावनाका ही प्रताप है। जब यह जीव अमूर्त निर्मल केवल ज्ञानज्योति मात्र है तो इसका किसी अन्य द्रव्य से क्या सम्बंध है? चेतन मनुष्य कितने ही भले जचंते हो और उनमें अपनी कीर्तिकी भावना हो, मेरा नाम फ़ैल, मेरा यश बने, मैं श्रेष्ठ कहाऊँ। तो ऐसा सोचने में उसके पर्यायबुद्धि आ गई। भावना और ध्यान तो यह होना चाहिए कि मैं सर्वसे निराला, केवल ज्ञानमात्र हूँ, बाहरमें जो होता हो, जिनका होता हो उसके ज्ञाता द्रष्टा रहे, पर यह बात विषय के लोभियोमें कभी सम्भव नहीं हो सकती। चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है। एक सिद्धान्तकी बात यह जाने कि जो तीन बाते है—1. श्रद्धान, 2. ज्ञान और 3. चारित्र, ये मोही अज्ञानी जीवोके तो खोटे रूप रहती है—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र और भेद विज्ञानी जीवके रत्नत्रय स्वभावरूपमें रहता है। सो इन तीनमें कर्मके बन्धका, आस्त्रवका कारण दो है—1. श्रद्धान और 2. चारित्र। मात्र ज्ञानसे कर्मबंधं नहीं, कर्मका आश्रव नहीं। जो कुज्ञान को कहते है कि कुज्ञान बुरा है और कुज्ञानसे बंध बनता है तो उसमें यह विभाग जाने कि जो अंश ज्ञानका है उससे तो कर्म नहीं बंधता, पर उसके साथ जो अज्ञान, रागद्वेष लगा हुआ है उससे कर्म बंधता है। मतलब यह है कि कर्मबंधन का कारण श्रद्धान और चारित्र है, ज्ञान नहीं। सो जिस पुरुषको कुछ ज्ञान तो अधिक हो, मगर श्रद्दाहीन है, चारित्रहीन है तो वह बन्धनमें है। कर्मबंध ज्ञानके अनुसार होगा या श्रद्धान चारित्रके अनुसार होगा? जैसी श्रद्दा, जैसा चारित्र उसके अनुरूप कर्मबंध होने व न होने की व्यवस्था है, पर ज्ञान से नहीं है, सो जो चारित्रहीन ज्ञान है वह निरर्थक है। चारित्र उसके साथ होना ही चाहिए।

(10) सम्यक्त्वहीन लिङ्ग्रहणकी व संयमविहीन तपश्चरण की निरर्थकता— दसूरी बात यह है कि जो सम्यग्दर्शनसे हीन है वह यदि दिगम्बर भेष, मुनिभेष भी धारण करे तो उसका वह भेष व्यर्थ है। कर्म बंधनेसे हट जाये इस काम में कर्म शरीरकी चेष्टाओको नही देखते कि यह शरीरसे कैसी चेष्टाये करता है उसके अनुसार हम बँधे, किन्तु श्रद्धा और चारित्रिका बिगाड़ देखकर बिगाड़का निमित्ता पाकर कर्म बंधते है। कर्मबंधका कोई दूसरा साधन नही है। सो इस गाथा मे कहते है कि चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है। और सम्यक्त्वहीन भेषका ग्रहण निरर्थक है। श्रद्धा ही नही है कि किसलिए निर्ग्रथ दिगम्बर हुए। बस अपने आराम को सुविधाके लिए, लोगो के द्वारा पुजापा बनाने के लिए निर्ग्रन्थ हो जाते है, दिगम्बर भेषमें हो जाते है, किन्तु श्रद्धाविहीन पुरुषका कुछ भी तप भेष यह सार्थक नही होता। कर्मबन्ध इससे रूक जाये ऐसा नही होता। तीसरी बात है संयमहीन तपश्चरण। कोई तपश्चरण करे तो करे पर इन्द्रियसंयम औश्र प्राणसंयम रंच भी न हो साथ तो उसका तपश्चरण निरर्थक है। सो अपने लिए इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि जीवन अपना चारित्रमय बने, क्योकि प्रकृति तो चारित्रसे चलती है और अपने स्वभाव को स्वयं चारिरूप देखे। यह ज्ञानमात्र स्वभाव है और अपनेही स्वरूपमें रहने वाला है, ऐसी दृष्टि करके अपने स्वरूपको निरखे तो उसका कल्याण है। आत्मज्ञान बिना धर्मके नामपर बड़े-बड़े भेष भी रख ले तो भी उससे न उसका खुदका लाभ है, न दूसरे को लाभ है। तो अपना जीवन चारित्रमय होना चाहिए और विषयोसे विरक्त होना चाहिए।

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्रहणं च दंसण विशुद्ध।

संजमसहिदो य तवो धोओ वि महाफवो होइ ॥ 6 ॥

(11) चारित्रशुद्ध ज्ञानकी महाफलदायकता— चारित्रसे शुद्ध तो ज्ञान हो और सम्यक्त्वसहित जिन मुद्राका ग्रहण हो और संयमसहित तप हो, ऐसे ये थोड़े भी हो तो ये महाफल वाले होते है, ज्ञान चाहे थोड़ा हो, मगर चारित्रसे शुद्ध हो अर्थात आचरण योग्यव्रतरूप हो तब थोड़ा भी ज्ञान हो तो भी वह महाफल देगा। इससे पहली गाथामें बताया था कि चारित्रहीन ज्ञान निरर्थक है। वहाँ निषेधरूपसे बताया था, यहाँ विधिरूप से बतला रहे है कि ज्ञान कितना ही हो, उसके साथ चारित्र हो तो वह बड़ा फल प्रदान करता है, क्योकि कर्मोका बंध रोकना, कर्मोकी निर्जरा होना यह चारित्रके आधीन बात है। रागद्वेषरहित परिणाम हो, समताकी और झुका हुआ हो, ज्ञान ही जिसके ज्ञानमें समा रहा हो वही वृत्ति तो चारित्र है। तो चारित्रसे शुद्ध ज्ञान महान् फल प्रदान करता है। जैसे कोई रागी दवाई आदिकका ज्ञान तो खूब करे किन्तु उसका प्रयोग न करे, खाये नही तो वह ज्ञान कुछ फल देने वाला तो न रहा। औषधियोका बोध तो रहा, पर जब उनका प्रयोग ही कुछ नही किया जा रहा तो निरोगता कैसे हो? ऐसे ही कोई आत्मा अपने संसाररोगके बारेमें और संसाररोग दूर होनेके बारे में कुछ ज्ञान भी कर लें, पर अपने ज्ञानको उपयोगको आत्मास्वरूपके अनुरूप न बनाये तो उस ज्ञानसे फायदा नही और दृष्टि सही रखे, यथाशक्ति आत्वस्वभावकी ओर दृष्टि बनाये तो थोड़ा भी ज्ञान हो तो वह भी महान फल प्रदान करता है।

(12)सम्यक्त्वशुद्ध जिनमुद्राग्रहण की महाफलदायकता— सम्यग्दर्शन से विशुद्ध जिनमुद्राका ग्रहण महान फल प्रदान करता है। कार्य क्या करना है? जब यह बात प्रयोजनसे सही उतर जाती है तब क्रिया पुरुषार्थ उस उद्देश्य पूरके हो जाते है। जिनमुद्रा ग्रहण करना तपश्चरण है, संयम है, ये किसलिए किए जाते है? इसका जिनको परिचय है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उस सहज ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्व को निरखना है, उसही में

रमना है, वहाँ ही निस्तरंग होना है, इस कार्यका जब परिचय हो और फिर वह जिनमुद्रा धारण कर यथासम्भव इसही ज्ञानस्वभाव में मग्न होनेका पुरुषार्थ बनाये, तो उनका यह जिनमुद्रा ग्रहण महान् फल को देने वाला है। किस कारण कि आरंभ और परिग्रहका त्याग किया जाता है। इसका ठीक परिचय विरक्त साधुको होता है। नग्नपना समस्त शल्योके दूर करनेका सूचक है, वह अपनेको निर्भर समझता है, स्वयमेंव सारे आरम्भ छूट जाया करते हैं और आरम्भ परिग्रहको छोड़ने का व्रत भी लिया है तो ऐसे श्रद्धान सहित जिनमुद्रा का ग्रहण करना फलदायक होता है।

(13) संयमसहित तपश्चरण की महाफलदायकता— संयमसे सहित तपश्चरण हो तो वह तपश्चरण चाहे थोड़ा ही हो तो भी वह महान् फल देता है। संयम दो प्रकारके होते हैं—(1)इन्द्रियसंयम, (2) प्राणसंयम,। पञ्चेन्द्रियके विषयोसे राग न होना इन्द्रियसंयम है। जिसने आत्माके स्वभावके आनन्दका परिचय पाया है और जिसका यह दृढ निर्णय है कि आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, जब ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव रहे, वही ज्ञानमें रहे, किसी परपदार्थपर उपयोग न जाय तो उस समय उत्पन्न हुआ आनन्द जिसने चख लिया है उसे विषयो में प्रीति कभी हो ही नहीं सकती। तो जिसके इन्द्रियसंयम है उसके वास्तविक तपश्चरण है। प्राणसंयम में 6 कायके जीवो की दया पाली जाती ह। वास्तवमें अपने जीवके समान, अपने स्वरूपके समान स्वरूप वाला समझा हो और सामान्यदृष्टि से देखा जाय तो सभी आत्माये समान है, ऐसा जिसका निर्णय हो वह प्राणरक्षाका पौरुष कर सकता है। तो ऐस इन्द्रियसंयम और प्राणसंयमसे सहित जो तपश्चरण है वह थोड़ा भी तपश्चरण हो तो विशाल फलको प्रदान करता है।

णाणं णरुण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता ।

हिडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ 7 ॥

(14) विषयविमोहित पुरुषोका चतुर्गतिहिण्डन— कितने ही पुरुष जिनको कि स्व और परतत्त्वका ज्ञान नहीं है वे ऊपरी बाहरी ज्ञानको जानकर भी विषयरूप भावमें आसक्त होने सन्ते चतुर्गतिमें भ्रमण करते रहते हैं। खुद खुदका परिचय कर ले यह स्थिति जिसने पायी है वह पुरुष उत्कृष्ट पुरुष है। उसने सर्व समस्याओ का हल कर लिया जिसने अपने सहज स्वरूपका परिचय पा लिया और जिसको सर्व परपदार्थोंसे भिन्न ज्ञानमात्र आत्मतत्व का परिचय नहीं है वह पुरुष इस स्थितिको नहीं पा सकता कि जहाँ सहज आनन्दका अनुभव हो सके। सो वह तो निकृष्ट है ही कि जिसके मिथ्यात्व भी है और विषयामें आसक्ति भी है लेकिन अनेक पुरुष ज्ञानको जानकर भी विषयो के भाव में आसक्त रहते हैं तो वे चतुर्गति रूप संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं। तो जो विषयोंमें मुग्ध बुद्धि वाले जन हैं वे विषयोंमें आसक्त होकर संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं।

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णरुण भावणासहिदा ।

छिंदति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥ 8 ॥

(15) विषयविरक्त ज्ञानभावनासहित तपस्वी संतो का चतुर्गतिबन्धछेदन — जो पुरुष विषयो से विरक्त है और ज्ञानस्वरूप को जानकर ज्ञानकी भावनासे सहित है वे तपस्वीजन चारो गतियोंके बन्धन को काट देते हैं, इसमें कोई भी संदेह नहीं। मुख्य चिह्न है, कल्याण पाने वालेका, विषयोसे विरक्त होना। जिसके हृदय में छूने, खाने, सूँघने, देखने, सुनने आदिक विषयो की वृत्ति में उमंग नहीं है और इन विषयो की वृत्ति को उपद्रव मानते हैं ऐसे विषयविरक्त पुरुष इस संसारके बंधनको काट देते हैं। विषयोसे विरक्ति किसके

होती है? जिसको यह श्रद्धा हो कि विषय परद्रव्य है। उन परद्रव्योसे मुझ आत्माका कोई सम्बंध नहीं है, ऐसा यथार्थ जानकर जो अपने स्वरूपकी और अभिमुख होता है वह पुरुष विषयोसे विरक्त रहता है। दृष्टि जैसी मिलती है उसके अनुसार कार्य होता है। जिसमें परको आत्मा माननेकी धुन और आदत होती है वह विपत्तियोका ही उपाय बनाया करेगा और जिसको निरापद अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान है वह पुरुष सन्मार्गपर है और अपना कल्याण करेगा। तो विषयोसे विरक्त होना इससे अन्दाज लगता है कि कौन पुरुष कितना धर्ममार्गमें बढ़ चुका है। तो विषयोसे जो विरक्त पुरुष है वह ज्ञानसे जानता है और ज्ञानकी भावना किया करता है। सो ऐसा विवेकी पुरुष तपश्चरण आदिक गुणोसे युक्त होकर चारो गतियोके बन्धनतोड़ देता है। जानने वाला यह ज्ञान ही तो है। यह ज्ञान कहाँसे जगा, कैसे निकला, उसका क्या रूपक है, इसका परिचय जिन्हे हो गया उनको आत्मदृष्टि होती है। ज्ञान मेरा स्वरूप है। पहले मुझमें ज्ञान न था, अब आ गया, ऐसी बात नहीं होती। जब से जीव है तब ही से ज्ञानस्वरूप है। तो ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप को जानकर यह ज्ञानभावनासे सहित है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, अपने प्रदेशोंमें सर्वत्र ज्ञानप्रकाश ही निरखना, सो ऐसी ज्ञानभावनासहित पुरुष चारो गतियोके भ्रमणको छेद देते हैं। अब उनका संसारमें जन्ममरण न होगा। दो एक भव ही होकर उनके कर्मबंधन ये सब टूट जायेगे। तो जो पुरुष विषयोसे विरक्त है, ज्ञानसे जानकर ज्ञानकी भावना से युक्त है वह ही पुरुष इस संसारबंधनको तोड़ सकता है। यह संसार महाजाल है, इससे अलग होना कठिन है। इसमें रहना कठिन है। संसारमें रहने पर, उपयोगको जमानेपर इस जीवको आकुलता ही है, और जहाँ इस संसारभावसे उपेक्षाकी, ज्ञानमें ज्ञानका स्वरूप ही बन रहा हो, ऐसे पुरुषोको सन्मार्गपर चलना बहुत आसान है। सो जो आत्मस्वरूप को जानता है और इसके फलमें विषयोसे विरक्त है और विषयविरक्तिके उपाय से जिसके ज्ञानभावना अधिकसे अधिक बन रही है वह पुरुष उस ज्ञानके पूर्णविकासको पायेगा और अनायास ही जगतके तीन लोक तीन कालके सारे वैभव यहाँ प्रतिभासित होंगे। सो विषयविरक्तिको अपने जीवनमें बहुत महत्व देना चाहिए। जितनी विषयो में प्रवृत्ति रहे, समझो उतने क्षण इस जीवनके बेकार है। विषयो से विरक्त होकर निज स्वभावके अभिमुख रहे तो उसके समस्त दुःखोका क्षय होता है। सो इस गाथामें यह ही कहा जा रहा है कि विषयविरक्त पुरुष ही चतुर्गतिके बंधनको तोड़ सकता है।

जह कंचणं विशुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण ।

तह जीवो वि विशुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥ १ ॥

(16) निर्मलज्ञानसलिलसे जीवकी विशुद्धता— जैसे स्वर्ण किसी पाकपर उतरे, जैसा कि उपाय होता है, अग्निमें तपे, सुहागा और नमक उस मलिन स्वर्णपर डालनेपर वह स्वर्ण निर्मल और विशेष कांति वाला हो जाता है। ऐसे ही ये जीव भी जो विषयकषायके मलसे मैले हैं, यदि वे निर्मल ज्ञान रूपी जलसे अपने आपको धोये, साफ करे तो वे कर्मोंसे रहित होकर विशुद्ध सिद्ध भगवन्त हो जाते हैं। अशान्ति की निष्पत्ति बनती है। किसी भी परद्रव्योको आश्रय बनाने पर। यदि परद्रव्य के आश्रय बनाये बिना सुख अथवा दुख हो जाय तो वह स्वभाव बन बैठेगा और फिर उनको हटानेकी कोई आवश्यकता ही न समझेगा। तो अपने आत्माको ज्ञानरूपी जलसे खूब धो-धोकर कर्मोंसे रहित स्थितिको पाना चाहिए। जब कोई निरन्तर प्रतिदिन अपने बारे में भाये-में ज्ञानमात्र हूँ तो इस ज्ञानमात्र भावनाका वह फल है कि ऐसी स्थिति पा लेता है तो वहाँ किसी तरहका संकट अनुभवमें नहीं रहता। सो बतला रहे हैं इस गाथा में कि जैसे निर्मल स्वर्ण सुहागा और लवण (नमक)

का लेप करनेसे कान्तिवान बन जाता है ऐसे ही आत्मा ज्ञानके योगसे, अपनेको ज्ञानरूप निरखते रहनेसे यह जीव भी शुद्ध हो जाता है।

(17) आत्माकी ज्ञानमयता— ज्ञान आत्माका प्रधान गुण है। ज्ञानमय ही जीव है, ज्ञानसे ही रचा हुआ जीव है। जैसे यहाँके दिखने वाले पुद्गल रूप, रस, गंध, स्पर्शमय है, वस्तुतः तो जो जैसा है सो है, पर उसमें विदित तो होता है कि रूप है, तो रूप कही उस पुद्गल में बाहरसे आया हुआ नहीं है या उधार लाया हुआ नहीं है, किन्तु वह रूपमय ही स्वयं है। जैसे कोयलेमें कालापन। जो बुझा हुआ कोयला है उसमें जो कालापन है सो वह कालापन कही बाहर का चिपकाया हुआ नहीं है, किन्तु उसमें स्वयं ही वह रूप है। जैसे स्वर्णका पीलापन। उसमें वह रूप रंग कही बाहरसे बनाया हुआ नहीं है। कोईसा भी रूप हो, यह तो परिवर्तित हो जायेगा, मगर किसी समय पुद्गल रूपरहित हो जाय, यह कभी नहीं हो सकता। तो ऐसे ही आत्मा ज्ञानस्वरूप है। मीमांसकोकी तरह जैनसिद्धान्त नहीं है कि ज्ञान गुण नामका पदार्थ अलग है और आत्मा नामका द्रव्य अलग है और उनमें संयोग संबंध या समवाय बननेसे आत्मा बनता है, ऐसा नहीं है। आत्माका स्वरूप ही यही है, वह ज्ञानमय है और उसके ज्ञानमें सर्व पदार्थ झलकते हैं। तो अपनेको अन्तः ज्ञानमात्रही निरखे कोई तो अपना स्वरूप अपनेको दृष्टिगत हो जायेगा। मोक्ष मार्ग के लिए शान्ति पानेके लिए मात्र एक यही कर्तव्य है कि अपने को ज्ञानमात्र निरख ले। केवल जाननस्वरूप हो, ऐसा ज्ञानमात्र की भावना करने वाला पुरुष उन कर्मकलंको से निवृत्त हो जाता है। आत्माका यह स्वभाव, ज्ञानस्वभाव मिथ्यात्व और विषयोसे मलिन हो रहा है। सो यथार्थ ज्ञान होनेपर उस रूप पदार्थको निरख—निरखकर आत्मामें जो एक पवित्रता बनती है उसके प्रतापसे ये सर्व मलविकार दूर हो जाते हैं। सो विषयकाषाय मिथ्यात्वके भाव दूर करके अपनमें में ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी निरन्तर भावना रखना चाहिए। जो रखता है उसके इस ध्यानके प्रसादसे कर्मका नाश होता है, अनन्त चतुष्टय प्रकट होता और वह आत्मा शुद्ध पवित्र सदाकाके लिए उत्कृष्ट आनन्द वाला हो जाता है। तो अपनी इस अमूल्य निधिपर ध्यान देना चाहिए और संसार के इन विभिन्न पौद्गलिक चमरकारो में अपनेको न उलझना चाहिए। इस प्रकार यह जीव ज्ञानस्वभावी मिथ्यात्वसे वासित होकर अपनेको दुःखी बना रहा है, पर जैसे ही स्वभावका परिचय मिला और स्भावरूप ही अपनेको बार—बार भाया तो उसके ये सारे विरुद्ध कार्य, विरुद्ध विकार समाप्त हो जाते हैं।

णाणस्स णत्थि दोसो कप्पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो ।

जे णाणगळ्बिदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥ 10 ॥

(18) ज्ञानगर्वित पुरुषोकी विषयानुरक्तिमें ज्ञानके दोष का अभाव — कोई ज्ञानका गर्व करके विषयोमें अनुरक्त होते हैं तो वहाँ यह दोष ज्ञानका न समझिये, किन्तु जो मंदबुद्धि है और खोटी विकारवासना बनी है, चारित्रमोहका उदय है तो ये विकार बने हैं, ज्ञानका तो जानना काम है शुद्ध काम अर्थात् मात्र ज्ञानका ही जो काम है उसमें दोष नहीं है। दोष आता है किसी परउपाधिसे, क्योंकि ज्ञान तो आत्माका स्वरूप है, चाहे वह थोड़ा हो, अधिक हो, चाहे उल्टा ज्ञानमें आ रहा हो, मिथ्या जान रहा हो, पर उसमें जो जानन अंश है वह तो है ज्ञानका काम और जितना विकार अंश है वह है चारित्रमोहका काम। जैसे बल्बके ऊपर हरा कागज लगा देनेसे रोशनी हरी हो रही है, पर वहाँ रोशनी रही नहीं है। रोशनी का जितना शुद्ध काम है वह तो प्रकाशरूप है। उस हरे प्रकाश में दो दृष्टियाँ रखनी हैं—(1) केवल प्रकाशन और (2) हरापन। तो जितना हरापन है वह प्रकाशसे अलग बात है और जितना प्रकाश है वह दीपकका कार्य है। तो ऐसे ही जो ज्ञान विकृति है, जिस ज्ञानके

साथ विकार चल रहा है, तो लगता है कि ज्ञान ही तो विकृत हुआ, पर वहाँ ज्ञानका जितना कार्य है वह तो है केवल प्रतिभास, जानन और बाकी जितना विकार है वह चारित्रमोहादिकका कार्य है।

(19) ज्ञानका परिणमन प्रतिभासमात्र — निश्चयतः देखे तो जो संशयज्ञान है, विपरीत ज्ञान है वहाँ भी ज्ञानका कार्य प्रतिभास है, कल्पना विकार है, जैसे पड़ा तो है मानो कांच और सोच रहे है चांदी, या पड़ी तो है रस्सी और सोच रहे है कि सांप पड़ा है। तो जो ऐसा उल्टा ज्ञान जगा है उसमें जितना जाननरूप कार्य है वह तो ज्ञानका है और जितना उल्टापन साथ लगा है वह अन्य कारणोंसे हुआ है। जैसे दृष्टि बंद होना, बहुत दूर पड़ा होना और जैसा आकार सांपका होता है उस ही ढंगमें रस्सी पड़ी हो और सिर्फ जितना जानन अंश है वह तो ज्ञानका कार्य है और बाकी सब उपाधिका कार्य है। संशयज्ञानमें भी जैसे पड़ी तो सीप है और ज्ञान यो सोच रहा है कि यह सीप है या चांदी जैसे तो जो प्रतिभासमें आया सफेद स्वच्छ आकार याने जिस ज्ञानके सम्बंधमें शब्द योजना नहीं बनती, खाली प्रतिभास हो रहा वह तो शुद्ध है याने वही है, किन्तु उपाधिका सम्बंध होने से कुछ अन्य कारणकूट मिलनेसे विकल्प बन गए है। सो यह तो और भी सूक्ष्म बात है, पर ज्ञानी पुरुष अपार ज्ञान पाकर और व्यर्थ के विकल्पोंमें आकर मिलनेसे विकल्प बन गए ह। सो यह तो और भी सूक्ष्म बात है, पर ज्ञानी पुरुष अपार ज्ञान पाकर और व्यर्थ के विकल्पोंमें आकर विषयो से अनुरक्त रहे तो वह दोष ज्ञानका नहीं है, किन्तु उपाधिका दोष है, ऐसा कहकर आत्मामें शील स्वभावपर मुख्य दृष्टि करायी गई है। यह शीलपाहुड ग्रन्थ है, इसमें आत्माके शील का वर्णन है। शील, शील क्या? ज्ञान, मात्र जानन। जो स्वभाव है वह शील है। तो शीलकी दृष्टिसे देखे तो आत्मामें जो ज्ञान जग रहा है उसका कोई दोष नहीं होता। दोष होता है उपाधिके मेलका।

(20) विकारकी मोहनिमित्ता व ज्ञानकी प्रतिभामात्रता—इस प्रकरणमें मुनियोकी बात कही जा रही है। वे समझ वाले है, ज्ञान वाले है, तो उस दृष्टि से देखें तो ज्ञानका दोष नहीं है, वह उपाधिका दोष है और सभी जीवोंमें देख लो कोई अज्ञानी जीव है तो न भी मात्र ज्ञान और शीलकी दृष्टि से देखे तो मात्र जो जानना है वह तो ज्ञान है और उसके साथ जो विकल्प —हर्ष, विषाद आदिक लग रहे है वहसब उपाधिकृत बात है। यहाँ कोई ऐसा न समझे कि ज्ञानसे जब पहले पदार्थों को जाना तब ही वह विषयोमें रंजायमान हुआ, राजी हुआ तो यह ज्ञानका दोष है और ज्ञानसे कुछ जाने बिना कोई विषयोमें लगता नहीं, चाहे कुछ जाने, जब विषयभूत पदार्थोंका उपयोग नहीं है विषयसाधन कैसे बनेंगे? सो ज्ञानसे कष्ट लगा है। उत्तर जो विवाद हुआ है वह ज्ञानका दोष नहीं है, किन्तु वह पुरुष खोटा है, मंदबुद्धि है, उसका होनकार खोटा है, बुद्धि बिगड़ गई है, विकार साथमें आया है सो गर्वमे प्रवृत्ति होती है वह जैसी श्रद्धा है और चारित्र है वैसी प्रवृत्ति होती है।

णाणेण दंसणेणे य तवेण चरिएण सम्मसहिएण।

होहदि परिणिव्वाणं जवाण चरित्तसुद्धानं ॥ 11 ॥

(21) सम्यक्त्वसहित ज्ञान दर्शन तप चारित्रशुद्धो का निर्वाण— निर्वाण कैसे प्राप्त होता है? सिद्धभक्ति आदिकमें और उसकी अंचलिका में बताया है कि अनेक तपसिद्ध है, ज्ञानसिद्ध है, संयमसिद्ध है, चारित्रसिद्ध है तो कही ऐसा नहीं है कि ज्ञानदर्शन आदिक तो है नहीं केवल तप कर रहा और सिद्धि मिल गई। अलग—अलग धर्मों की मुख्यतासे निर्वाण कहा है, पर वहाँ यह समझना कि सभी बातें सबके होती है, पर उनमें किसके कुछ मुख्य

होती है। अन्त में जाकर जहाँ अप्रमत्त दशा और श्रेणी होती है वहाँ एकसी दया रह जाती है। जब तक यह प्रमाद है, व्यवहार है तब तक भिन्नता नजर आती है। किसीके तपकी मुख्यता है, किसीके विनयकी मुख्यता है। किसीके विशेष शोध की मुख्यता है, पर जहाँ अप्रमत्त हुआ, श्रेणी में आरूढ़ हुआ वहाँ फिर ये विभिन्नताये नहीं रहती है। विभिन्नताये तब भी चलती है, मगर सूक्ष्म है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होते ही विभिन्नताये खत्म हो जाती है। सबका एकसा परिणाम चलता है। तो यहाँ यह समझना कि सम्यग्दर्शनसहित ज्ञान हो उससे निर्वाण है, सम्यक्त्वसहित दर्शन हो उससे निर्वाण है, सम्यक्त्वसहित चारित्र हो उससे निर्वाण है। सम्यक्त्वसहित चारित्र हो उससे निर्वाण है। यहाँ जो 5 बातें कही गई हैं सो निर्वाण पाने वालेके पांचो ही होती है। कही यह नहीं है कि कोई तीनसे, कोई दोसे निर्वाण पा ले, मगर वहाँ मुख्यता जिसके जैसी देखी जाती है उसकी रूढ़ि हो जाती है, पर सम्यक्त्व सबके साथ होना ही चाहिए। सम्यक्त्व तो होता है मार्गदर्शक चिह्न जहाजको नहीं चला सकते, मगर मार्गदर्शक चिह्नो के अनुसार जहाज चलाया जाता है तो ऐसे ही सम्यक्त्व तो है मार्गदर्शक और चारित्र है चालक, इतने पर भी चूंकि सम्यक्त्व भी आत्मामें अभेद है, चारित्र भी आत्मामें अभेद है, तो सम्यक्त्व में भी थोड़ा चालकपन बसा हुआ है ओर तब ही तो सम्यग्दर्शन के होते ही चारित्र जीवोका निर्वाण होता है। यहाँ दो बातें मुख्य आयी हैं—(1) सम्यक्त्वसहित और (2) चारित्र शुद्धि, ये सबमें होना चाहिए। अन्य बातोकी मुख्यता और गौणता चलती है।

शीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढ्चरित्ताणं ।

अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥ 12 ॥

(22) शीलके आलम्बनके प्रतापसे निर्वाण— जो पुरुष विषयोसे विरक्त है, शक्तिका रक्षण करने वाले है, सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, चारित्र में दृढ़ है उन पुरुषो का नियमसे निर्वाण होता है। कितने ही पुरुष ऐसे भी मुनि हुआ करते हैं कि जिनके चित्त में यह बसा रहता है कि मैं बड़ा शुद्ध चारित्र पालता हूँ और ऐसा मनमें ख्याल जमाये रखनेसे अन्य मुनियोमें उनको दोष नजर आने लगते हैं, ये नहीं निभा पाते, हम इतना निभा लेते हैं, और ऐसा भाव आनेसे उनके चारित्रमें हीनता हो जाती है, क्योंकि पर्यायपर ही उनकी अधिक दृष्टि गई है। चारित्र तो ज्ञानस्वभावमें आत्माके शीलमें रमण करने का है। चारित्र पालनहारको चारित्र पालते हुए भी उस चारित्रकी वृत्तिपर दृष्टि नहीं रहती। हो रहा है सब ठीक काम, मगर चारित्र एक पर्याय है, उसे निरखकर गर्व आता हो तो यह चारित्रमें हीनता करता है। जहाँ इतनी सूक्ष्म बात है वहाँ यदि कोई मोटे दोष पाये जाये तब तो हीनता विशेष है ही। **प्रश्न—प्रगतिका हेतु यदि सम्यग्दर्शन हे तो फिर सम्यग्ज्ञान क्या है ?** उत्तर— आत्मामें ये तीन पर्याय हैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, पर सम्यग्ज्ञान में सम्यक्पना या मिथ्यापन नहीं होता। ज्ञानमें सम्यक्पना आया है सम्यक्त्व के सहवाससे और मिथ्यापन आता है मिथ्यातत्वके सहयोगसे, तब ज्ञानके कार्यमें केवल जाननमात्र इतना ही तकना है और यह जाननमात्र आत्माका पतन करता है और न आत्माका उत्थान करता है। यह तो आत्माके साथ लगा हुआ है। उत्थान कहते हैं पतनसे हटकर ऊपर चढ़ने को और पतन कहते हैं नीचेकी और गिरनेको और उपाधि के सम्पर्कसे पतन होता है और उपाधि दूर हो जाये तो उसका उत्थान होता है। ज्ञान तो सर्वत्र जाननमात्र रहता है, उससे पतन और उत्थानकी व्यवस्था नहीं है। सूक्ष्मदृष्टिसे देखना।

(23) ज्ञानमय आत्माको अभेद व भेददृष्टि से निरखनेपर ऐक्य व वैविध्यका वर्णन — जैनशासन में दृष्टियाँ अनेक होती हैं। एक दृष्टिसे तो सब कुछ ज्ञानका ही काम

है, चारित्र, सम्यक्त्व अन्य चीजे ये कुछ है ही नहीं उस दृष्टिसे। ज्ञान ही इसरूप बना, ज्ञान ही उसरूप बना, सब रूप ज्ञानमें दिखते जायेगे। जैसे सुख है तो ज्ञानका ही एक ऐसा जाननेका ढंग बनना कि जिसके फलमें सुख प्राप्त हो, जाननेकी ही ऐसी विधि और ढंग मिलना कि जिससे दुःख प्राप्त हो, तो सब कुछ ज्ञान है, मगर विश्लेषण करके दृष्टियोसे देखा जाये तो भेददृष्टिसे देखने पर यह सब अन्तर नजर आता है। तो सम्यग्ज्ञान तो एक ऐसा आधार है कि जिसमें मिथ्यात्व चढे तो मना न करे, सम्यक्त्व आये तो मना न करे, जैसे सफेदपर कोई भी रंग चढाया जाये तो वह चढ जायेगा। जैसे राष्ट्रीय तिरंगे झंडेमें सफेद रंगको बीचमें रखा है तो ऐसे ही इस रत्नत्रयमें बीचमें सम्यग्ज्ञान है। उस सफेदपर पीला रंग भी चढ जाये और हरा रंग भी तथा दोनो रंगोका मध्यवर्ती है श्रेष्ठ। तो ऐसे ही सम्यग्ज्ञान एक सामान्य जाननका नाम है, उससे कोई तरंग या विशेषता नहीं जगती। भेद दृष्टिसे कहा जा रहा है कि कोई कितनी ही गड़बड़ी में आये तो वहाँ ज्ञानका दोष नहीं है, किन्तु अन्य जो कुछ उपाधियाँ चल रही हैं उन उपाधियोका दोष है।

(24) विषेसे विरक्ति होनेपर शीलका विकास— जो विषयोसे विरक्त होना है, बस यही शीलकी रक्षा है शील मायने, स्वभाव, अविकारभाव, ज्ञानभाव। उस ज्ञानमें विकार न आ सके, यह भी शीलकी रक्षा है और उसमें विकार आये तो वही शील की अरक्षा है। सो जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, चारित्र भी निर्दोष निरतिचार शुद्ध है ऐसे पुरुष का नियम से निर्वाण होगा। जब—जब चारित्र शब्द कहा जा तो मोक्षमार्ग के निश्चय के प्रकारणमें ज्ञानमें ज्ञानका ठहराना यह अर्थ लिया जाना चाहिए। चारित्र और कुछ चीज नहीं है। चलना, समितिपालन, आहार लेना, मूल गुण पालन क्रियाये निश्चयचारित्रके स्वरूपमें इनकी प्रतिष्ठा नहीं है मगर मार्ग जरूर है। मार्ग इस कारण है कि कोई पुरुष चारित्र में चलता है तो उसके जो पूर्व संस्कार हैं उन संस्कारो से वह चारित्रसे चल नहीं पाता और वहाँ कुछ विपरीत वृत्तिमें लगनेका अवसर आता है। तो विपरीत भावमें न लग सके उसके लिए यह व्यवहारचारित्र है, जिसके प्रसादसे यह जीव निश्चयचारित्रकापात्र होता है।

विसएमु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्टदरिसीणं ।

उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तंसि ॥ 13 ॥

(25) यथार्थदर्शियोकी विषयमोहित होनेपर भी मार्गलक्ष्यता— जो पुरुष ज्ञानी है, सही मार्ग दिखाने वाले है, पर विषयो में विमुग्ध है तो भी उनको मार्गकी प्राप्ति हो सकती है, पर जो उन्मार्गके दिखाने वाले है उनका ज्ञान पाना निरर्थक है। उनको लाभ नहीं हो सकता। ज्ञान पाकर ओर ज्ञानसे सही प्ररूपणा पाकर अपने लिए सही निर्णय करके भी यदि उसके विषयोमें वृत्ति बनती है तो भी वह पार हो जायेगा। यह अल्पदोष आगे दूर हो जायेगा, किन्तु जो उल्टा ही मार्ग बताये और उल्टा ही हठ करे तो उसको मार्गका लाभ नहीं होनेका, क्योंकि उसने एक ज्ञानकी दिशा ही बदल दी। इससे यह बतलाया था कि ज्ञान और शीलमें विरोध नहीं है, अर्थात् जो शील है सो ही ज्ञान है, फिर भी ज्ञान हो और विषयकषाय होकर ज्ञान बिगड़ जाये तब शील नहीं है। ज्ञान पाकर चारित्रमोहके उदयसे विषय नहीं छटे और इससे विषयोमें विमुग्ध रहे और मार्गका प्ररूपण सही करे, विषयोके त्याग रूपही करे तो भी उसे मार्गकी प्राप्ति हो जायेगी, किंतु दोष भी करे और दोषोको गुणरूप सिद्ध करे तो उसको मार्गका लाभ नहीं मिल सकता। दोष करता हुआ दोषको जो दोष जानता है वह तो सुलझ जायेगा ओर जो दोष करता हुआ दोष को गुण बताता है और ऐसा ही प्ररूपण करता है, ऐसे पुरुषको सन्मार्ग नहीं प्राप्त होता।

(26) उन्मार्गप्ररूपण करने वालेके ज्ञानकी भी निरर्थकता— चार प्रकारके पुरुष होते हैं, एक तो ज्ञान सही है और विषयोसे भी विरक्त है। और एक वह, जिसका ज्ञान सही है, पर कर्मविपाकवश उस मार्गपर चल नहीं पाता व विषयोमें अनुरागी हो जाता है। और एक वह पुरुष है कि विषयोमें अनुराग भी है और उन विषयोका समर्थन भी करता है, दोषको दोष रूप नहीं कह सकता और एक चौथा पुरुष ऐसा लीजिए कि जिसके ज्ञान भी बहुत है, आचरण भी करता, विषयोको भी छोड़ रहा और फिर खोटे मार्गका प्ररूपण करता है तो इसमें दृष्टिसे घटित करना चाहिए कि जो ज्ञानी है और विरक्त है, यथार्थ प्ररूपण करता है, वह तो उत्तम है और जो ज्ञानी है व यथार्थ प्ररूपण करता है, पर विषयोको छोड़ नहीं पाता है, वह उसके बादका है। जो ज्ञानी है व विषयोका भी आसक्त हो तो वह ऐसा अत्यन्त निकृष्ट जीव है। पर यहाँ केवल आत्माके शील स्वभापर दृष्टि देकर निरखे तो चाहे कोई भी जीव हो, कैसा भी जीव हो, ज्ञानका काम तो मात्र जानन है और जितना ऐब लगा है वह ज्ञानके दोषकी बात नहीं है, किन्तु उपाधि और कर्मविपाकके संसर्गकी बात है। सो यहाँ मुख्यतया यह कहा कि खोटे मार्गके प्ररूपण करने वालेका सब कुछ ज्ञान भी निरर्थक है।

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाई ।

सीलवदणाणरहिदा ण हु तो आराधया होंति ।। 14 ।।

(27) बहुशास्त्रज्ञाता होनेपर भी अधर्मप्रशंसक शीलव्रतज्ञानरहित भिक्षुओकी अनाराधकता— जो पुरुष बहुत प्रकारके शास्त्रोको जानता है और कुमत कुशास्त्रकी प्रशंसा करने वाले हैं व शील और व्रत एवं ज्ञान इनसे रहित हैं वे आत्मास्वभावके आराधक नहीं हैं। आत्माका शील है ज्ञानस्वरूप। जो आत्माका स्वरूप है, सो ही आत्मा का शील है। वे पुरुष शील से रहित हैं जो कुमति कुशास्त्रकी प्रशंसा करते हैं, कैसा विचित्र अभिप्राय होता है कि जैन तत्वोका ज्ञान भी बहुत है फिर भी खोटे शास्त्रोकी प्रशंसा करने वाले होते हैं, उनको जैन सिद्धान्तकी बात भीतरी नहीं आयी और अन्य लोगो की बात आसान है, इस कारण उनकी प्रशंसा करते हैं वे पुरुष शील, व्रत, ज्ञान इन तीनोंसे रहित हैं, उन्हें, सच्चा ज्ञान होता तो अध्यात्मदृष्टिकी ही उनको धुन होती, सो जो लाग बहुत शास्त्रोको जानते हैं और कुमत कुशास्त्र की प्रशंसा करते हैं तो यो जानना कि कुमत और कुशास्त्रसे ही उनको राग है, उनको उन्ही कुशास्त्रो से प्रीति है तब उनकी प्रशंसा करते हैं तो वे सब मिथ्यात्वके चिह्न हैं और जहाँ मिथ्यात्वभाव है वहाँ ज्ञान भी मिथ्या है और जहाँ ज्ञान मिथ्या है वहाँ विषयकषाय से रहित होना नहीं बन सकता। विषयकषाय से रहित हो, विकार न आये, केवल ज्ञाताद्रष्टा, रहे तो रह ही है आत्माके शीलका पालन। सो जिनके मिथ्याबुद्धि लगी है वे आत्माके शीलका पालन नहीं कर सकते और जिनके मिथ्यात्व लगा है उनके व्रत भी नहीं पलता, ऐसा कोई व्रत आचरण यदि करे तो वह मिथ्याचारिरूप चलता है, सो जो पुरुष कुमत कुशास्त्रकी प्रशंसा करने वाले हैं वे रत्नत्रय के आराधक नहीं हो सकते, जिन्होंने आत्माका अनुभव पाया वे आत्माका अनुभव जिन कथनोमें मिले उन कथनोसे ही प्राप्त करेंगे, पर अन्य शास्त्र तो राग बढ़ाने वाले हैं, आत्मानुभवकी ओर ले जाये, ऐसी कथनी कुशास्त्रमें नहीं है। तो जो कुशास्त्रकी प्रशंसा करते हैं उनमें रत्नत्रयं नहीं है, यह बात निःसंदेह है।

रुवसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं ।

सीलगुणवज्जिदाणं गिरत्थंजयं माणुसं जम्म ।। 15 ।।

(28) **रूपश्रीगर्वित शीलगुणव्रतरहित पुरुषोके मनुष्यजन्मकी निरर्थकता**— जो पुरुष रूप और लक्ष्मी का गर्व करते हैं, जवानी है, रूप सुन्दर है, उसके घमंडमें है, कोई पुण्ययोग से धन (लक्ष्मी) प्राप्त हुआ है उसका घमंड करते हैं, तो जो पुरुष ऐसी सुन्दरतासे सहित है कि जो बहुतोको प्रिय लगे, यौवन अवस्थासहित हो और कांति प्रभाकर मण्डित हो और साथ ही लक्ष्मी भी प्राप्त हो, उस लक्ष्मीमें मदोन्मत हों वे पुरुष शीलसे रहित हैं, गुणोसे रहित हैं, उनका मनुष्यजन्म निरर्थक है। शान्तिका आधार है अपने आत्माका ज्ञान। दूसरा कोई आधार नहीं। दुनियामें जो बड़े कहलातें, सुखी कहलातें, देखने मात्रमें, जगतमें कोई सुखी नहीं। कोई करोड़पति है तो वह गरीबो से भी अधिक दुःखी रह सकता है। उसे उलझन, न जाने कहाँ-कहाँके ख्याल, न जाने क्या-क्या विकल्प, वे सब परेशान करते हैं। कोई देशका राजा है, नेता है, जैसे प्रजातंत्रमें कोई लोग बन गए बड़ी सभामें मेम्बर, तो कैसे ही ऊँचे पदपर कोई आ जाये, चाहे मिनिस्टर बने, पर उसके आत्माको चैन नहीं है। हो ही नहीं सकती चैन। जो परपदार्थपर दृष्टि रखेगा उसको चैन कभी नहीं मिल सकती। सो चैन तो नहीं है, पर रूप मिला, लक्ष्मी मिली, उसका घमंड भी किया, अब जिसे घमंड आता है वह शीलसे भी रहित है और गुणसे भी रहित है, और उसका जन्म निरर्थक है। यह मनुष्यजन्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। जगतके अन्य जीवो पर दृष्टि डाल कर देखो—घोड़ा, भैंस, गधा, बैल, कुत्ता आदिक ये भी तो जीव हैं। जैसे जीव हम हैं वैसे ही वे जीव हैं और हम आप क्या उन जैसे जीव कभी हुए न होंगे? अरे उन जैसे भी हुए, यहाँ तक कि एकेन्द्रिय जीव तो थे ही थे, उसमें तो कोई संदेह नहीं। तो ऐसे अनन्तानन्त जीव बसे हैं संसार में, उनके मुकाबलेमें देखो तो सही, यह मनुष्यभव कितना श्रेष्ठ भव है, पर इस भवमें भी यह जीव शान्त नहीं रहना चाहता और सोचो तो सही कि अगर हम मनुष्य न होते आज, और कोई कैसे ही कुत्ता, बिल्ली, गधा, भैंसा, शूकर आदि होते तो क्या उन जैसा जीवन न व्यतीत करते? आज हम आपकी स्थिति उन सब जीवोसे अच्छी है। मान लो आज हम मनुष्य न होते, अन्य किसी भवमें होते तो यहाँका क्या था मेरा ? कुछ भी तो न था, फिर यहाँ तृष्णा क्यों लगती है इन बाह्य पदार्थों के प्रति? उनके प्रति इतना अधिक लगाव क्यों बन रहा? बस यह लगाव ही इस संसारका मूल है। जो पुरुष मनुष्यजन्म पाकर भी शीलसे रहित है, विषयोमें आसक्त है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र गुणसे रहित है, रूपसे गर्वित है, मदोन्मत रहते हैं, उनका मनुष्य जन्म बिल्कुल व्यर्थ है। आगे मनुष्य होने लायक कोई कर्तव्य नहीं है, खोटे भवोमें गमन होगा। सो जो रूपादिकका मद करे सो मिथ्यात्वका चिह्न है, जो अपने शरीरको निरखकर एक गौरव माने, मैं बड़ा सुन्दर हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं इन लोगो में प्रमुख हूँ आदि किसी भी प्रकार से शरीर का बन्धन करके गर्व करे तो उसके मिथ्यात्व है, सम्यक्त्व नहीं है। यह देह महा अपवित्र है, खून, मांस, मज्जा, मल-मूत्र आदिकका पिण्ड है, इससे कोई ममता रखे तो यह उसका मिथ्यात्व है। वह कुछ भी करे धर्मके नामपर उपवास पूजा आदि परन्तु देहमें यदि ममत्वहुद्धि लगी है तो वे सब धार्मिक क्रियाकाण्ड करना बेकार है। सो जिनको देहमें आसक्ति है, विषयोसे प्रीति है वे पुरुष रत्नत्रयसे रहित हैं, उनके न शील है, न गुण है।

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु ।

वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं सीलं ॥ 16 ॥

(29) **अनेक सुकलावोमें शीलकी सर्वोत्तमता**— व्याकरण छंद दर्शनशास्त्र व्यवहार ये समस्त शास्त्र और जैनशास्त्र जिनागम इन सबको जानकर भी अगर शील हो साथ में तबतो शोभा है और शील नहीं है तो ये सब कुछ पाकर भी व्यर्थ है। यहाँ शीलके

मायने आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। सो आत्मा अपने ज्ञानस्वभावका ही आदर करे, तो कहो कि वह शील का पालक है। सो जो पुरुष सब कुछ कलाये जानने पर आत्मशील को जानेगा तो वह सब कुछ उत्तम लगेगा और आत्मशील का परिचय नहीं है तो वे सब उसकी धार्मिक क्रियाये भी उसके लिए व्यर्थ है।

शीलगुणमंडिदानं देवा भवियाण वल्लहा होंति।

सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए।। 17।।

(30) शीलगुणमण्डित भव्योका देवो द्वारा सत्कार और दुःशीलोकी निकृष्टता— जो पुरुष शील और गुणसे मंडित है, शील मायने स्वभावदृष्टि रखने वाले है और उसी आधार पर रत्नत्रय भी शुद्ध है तो ऐसा मनुष्य तो देवोको भी प्रिय है। जो आत्मा अपने आपको अकेला नहीं समझ सकता वह धर्म नहीं कर सकता। जो मानता है कि इतने कुटुम्ब वाला हूं, ऐसे समागम वाला हूं, ऐसी इज्जत वाला हूं, वह धर्मका पालनहार नहीं है। सर्वप्रथम यह श्रद्धा होनी चाहिए कि मैं आत्मा समस्त परद्रव्योसे निराला हूं। यह बात जब चित्तमें हो तब तो वह धर्मका पात्र है और जब तक अपने एकत्वस्वरूपपर दृष्टि न हो कि मैं आत्मा सर्व परसे विविक्त ज्ञान मात्र हूं, तब तक वह धर्मका आराधक नहीं हो सकता और जो शीलगुणसे मंडित है, रत्नत्रय से पवित्र चिज है, सच्ची श्रद्धा है, सही ज्ञान है, आत्मामें ही रमनेका जिनका भाव है और रमते है वे शील और गुणोसे मंडित है, ऐसे पुरुष बड़े-बड़े पुरुषोके भी आराधनीय है और जो बड़े ज्ञानके पा को पा चुके है, 11 अंग तक भी पढ़ चुके है, पर कोई जो शीलगुणसे शोभित नहीं है, आत्मस्वभावकी जिन्हे दृष्टि नहीं है तो ऐसे पुरुष कुशील है। वे विषयकषायोमें आसक्त है तो वे लोकमें बहुत ही न्यून है अर्थात् छोटे है, वे मनुष्यलोकमें भी किसीकी प्रिय नहीं है तो फिश्र अन्य देव आदिकके प्रिय तो हो ही कहाँसे सकते है? मुख्य बात यह है कि अपने आपकी शान्तिके लिए मुझे कुछ करना है। वास्तविक शान्ति तो मेरे स्वरूपमें होती। उसी स्वरूपका विकास करना है। यह बात जब तक चित्तमें न हो तब तक वह सुशील नहीं बल्कि कुशील है।

सव्वे विय परिहीणा रूवविरूवा वि वदिदसुवया वि।

सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं।। 18।।

(31) सुशील पुरुषोके मानुष्यकी सुजीवितता— जो पुरुष सभी शास्त्रो के तो ज्ञाता है, लेकिन हों विषयकषायोके प्रेमी तो वे मोक्षमार्ग को नहीं निभा सकते। जो सर्व प्राणियोमें हीन है, छोटे है और कुल आदिकमें भी छोटे है और स्वयं कुरूप हे याने सुन्दर नहीं है, वृद्ध हो गए है और यदि उनकी शीलपर दृष्टि है, आत्मास्वभावकी और उनका झुकाव है, स्वभाव उत्तम है, ऐसा जिनका निर्णय है और विषयकषायादिक की लीनता नहीं है तो उनका मनुष्यपना सुशील है अर्थात् ऐसे मनुष्य स्व और परका हित करने वाले है।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे।

सम्मदंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो।। 19।।

(32) शीलके परिवारभूत गुणोका निर्देश— यह शीलपाहुड ग्रंथ है, इसमें आत्माके शीलका वर्णन है। आत्माका शील मायने स्वभाव। जो सहज अनादि अनन्त है उस शीलकी बात कह रहे है कि उस शीलके परिवार कौन-कौन से है? तो पहल कहते है (1) जीवदया—जो स्व और पर परजीवोमें राग करता है वह शीलवान है। वास्तविक दया क्या है कि जिस मिथ्या भ्रममें दुर्विचारमें जीव फँस रहे है वह विकार हटे और जैसा शुद्ध स्वरूप है

उस स्वरूपमें अपना उपयोग लगाये तो वे पुरुष जीवदयाके सच्चे पालनहार है। जीवदया शीलका परिवार है। ऐसे कौन-कौन गुण है जो आत्माके स्वभावको प्रकट करते है, बढ़ते है, उनका जिक्र चल रहा है। जीवदया शीलके परिवारका है। (2) इन्द्रियका दमन-इन्द्रियविषयो में प्रवृत्ति न जाये और उन विषयो से विरक्ति रहे, उनपर दमन रहे तो ऐसा इन्द्रियदमन भी शीलका परिवार है। शील मायने आत्माका स्वभाव, स्वरूप। (3) सत्यवृत्ति-सच बोलना, किसी प्राणीकी जिसमें हिंसा हो ऐसे वचन न बोलना, तो यथार्थ बोले जाने वाले यथार्थ वचन ये शीलके परिवार है याने कैसे गुण होने चाहिए जोकि आत्माके स्वभाव है के विकासमें मददगार रहें वही शीलका परिवार है। (4) चोरी न करना-बिना दी हुई चीज ग्रहण न करना यह शीलका परिवार है। (5) ब्रह्मचर्य से रहना, किसी भी परदेह की प्रीति न करना, अपने आपके स्वभावकी दृष्टि बनाये रहना यह ब्रह्मचर्य शीलका परिवार है। (6) संतोष शीलका परिवार है, जिसके संतोष नहीं, बाह्य पदार्थोंमें तृष्णा है वह कुशील है। जिसके तृष्णा छूटे और संतोष रहता है तो वह शीलका परिवार है। इसी प्रकार (7) सम्यग्दर्शन-यह तो शीलका मुख्य परिवार है। जैसा आत्माका वास्तविक स्वरूप है उस रूपसे आपका अनुभव करना यह शीलका परिवार है। (8) सम्यग्ज्ञान-जो पदार्थ जैसा है उसको उसी प्रकार जानना, विनाशीकको विनाशीक जानना, जो अपनेसे भिन्न है उसे भिन्न जानना तो यह यथार्थ ज्ञान शीलका परिवार है। (9) सम्यग्चारित्र। (10) तपश्चरण-इच्छाओंका विरोध करना, इच्छाओका दास न बनना, ऐसा जो पवित्र परिणाम है वह कहलाता है तप, यह भी शीलका परिवार है। तो शीलकी दृष्टिसे ही आत्माकी रक्षा है अर्थात् ज्ञानस्वभावमात्र हूं, ऐसी प्रतीति बननेमें आत्माकी रक्षा है।

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।

भीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणां ।। 20 ।।

(33) आत्माका शील सहजचैतन्यस्वभाव- हम आप सब कोई पदार्थ है यह तो निश्चित है जिसमें मैं हूं, मैं हूं का भीतर में संकल्प होता है वह चीज तो अवश्य है कोई। अब वह वस्तु क्या है? तो ज्ञानमय पदार्थ याने ज्ञानस्वरूप है वह वस्तु। जो मैं हूं सो ज्ञानस्वरूप हूं। अब इसका शील क्या है? स्वभाव क्या है? तो इसका शील कहो, स्वभाव कहो वह है ज्ञान। ज्ञान ही स्वभाव है। तो जिन्होंने अपने इस ज्ञानस्वभाव को पहिचाना वे संसारके दुःखोंसे पार हो गए और जिन्होंने अपने आत्माके ज्ञानस्वभावको नहीं जाना वे संसार में दुःखी है। संसारमें रहनेसे लाभ क्या है? सो बताओ। जन्में, बच्चे हुए, जवान हुए, बूढ़े हुए, कुछ लोगोका सम्पर्क हुआ, मर गए, फिर दूसरे जन्ममें गए। यही यही करता रहता है यह जीव, इस जीवको लाभ क्या है संसारमें रहने का। आज मनुष्य है तो कुछ अच्छा लग रहा है, शान्ति है, सुख है, जायदाद है, खाने पीनेके साधन है, पर ये सदा रहेंगे, ऐसा तो नहीं है। मरकर मानो पशु बन गए, कीड़ा-मकौड़ा हो गए, तो उन जैसी जिंदगी बितानी पड़ती। तो पूरा निर्णय होना चाहिए कि मे आत्मा हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, इसका तो ज्ञानमय रहनेमें ही कल्याण है अन्य भाव बनानेमें कल्याण नहीं। रागद्वेषके भाव बननेसे किसी परपदार्थमें लगाव होनेसे इस जीव को जन्म मरण करना पड़ता है।

(34) धन इज्जत परिजन आदिमें सार का अभाव- प्रथमतो यही अनुभव हो जाता है कि किसीमें मोह करनेसे इस जीवको कितनी अंशाति मिलती है? लोग तो यह चाहते है कि मेरेको धन मिले, मेरेको इज्जत मिले, मेरेको संतान मिले, पर धन पाकर संतुष्ट और शान्त तो नहीं रहता कोई। जो जितना धनी है उसकी दृष्टिमें उतना आराम उतनी चीज, वैभव होनेसे उसकी सम्हालमें, उसके सोचनेमें उसको रात-दिन चिन्तित रहना

पड़ता है। इज्जत मिले, प्रथम तो इज्जत कोई चीज नहीं, लोगोको जिसससे कुछ फायदा होता हो, तो अपने फायदेके लिए उसके गुण गाते है। इज्जत नामकी कोई वस्तु नहीं, तो भी मान लो इज्जत है तो जितनी जिसको अधिक इज्जत मिली वह उतना ही परेशान रहता है। एक तो इज्जतको बनाये रहनेके लिए परेशान, फिर कोई बाधा आ जाये उस इज्जतमें तो उस समय परेशान। जैसे मानो कोई राष्ट्रका प्रधान था और फिर हार गया, इज्जत गई तो उसको कितना कष्ट होता है। तो यह सारा संसार मायाजाल है। इसमें जिसने चित्त लगाया वह दुःखी ही रहेगा, शान्ति पा नहीं सकता। यह भगवानका कहा हुआ वचन है—जो परपदार्थ में लगाव लगायेगा वह कभी शान्त नहीं रह सकता। परिजनकी बात देखो, कुटुम्ब बढ़ गया, लड़के हुए, पोते हुए, बच्चे बहुत हुए, अब वे लड़ते है, झगड़ते है तो उनको समझाने बुझानेमें, उनकी व्यवस्था करनेमें बड़ा कष्ट उठाना किस बातमे सार है यहाँ सो बताओ। कही सार नहीं।

(35) आत्माके सार शरण तत्वकी आत्मामें ही उपलब्धि— सार कहाँ मिलेगा? अपना सार अपने आत्मामें मिलेगा। क्या सार? आत्माका जो सहज सत्य स्वरूप है, बस उस रूप अपना चित्त बना ले, उस रूप अपनेको मान ले। मैं सबसे निराला ज्ञानमय पदार्थ हूँ। एक अपने ज्ञानस्वरूपको सम्हाल लें तब तो शांतिका रास्ता मिलेगा, पर बाहरी पदार्थोंमें लगाव और सम्हाल बनानेसे शान्ति कभी नहीं मिल सकती। जो आत्माका स्वरूप है उसका नाम शील है। जैसे कहते ना शीलव्रत, तो वास्तविक शीलव्रत क्या है कि आत्माका जो ज्ञानस्वरूप है वही मैं हूँ, ऐसा जानकर सर्व पदार्थोंके ज्ञाता द्रष्टा रहो। किसी पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि मत लाओ, यह है शील का पालन। फिर जो व्यवहार में कहते है कि शीलका पालन याने परपुरुष, परस्त्रीमें प्रीति न करना। तो शील नाम उसका इसलिए धरा कि अगर ब्रह्मचर्य से नहीं रहते तो चित्त एकदम बेठिकाने हो जायेगा। वह कुछ नहीं कर सकता। तो परमार्थसे शील तो ज्ञातादृष्टा स्वरूप आत्माको ज्ञानस्वरूप समझकर, बस ज्ञानमात्र जाननहार रहे, किसीको न अपना समझे, न पक्षमें आकर पर समझे, केवल ज्ञानमात्र, जो यह ज्ञानस्वभाव है सो ही शील है।

(36) भीलकी निर्मलतपश्चरणरूपता व दर्शनरूपता— शील है सो ही निर्मल तप है। अपने आत्माके स्वभाव की और रमण और उसीमें ही खुश रहना, बाहरी पदार्थोंमें लगाव न रखना यह ऊँचा तप है। शरीरसे कोई बड़ा तप भी कर ले तो भी वह जीव शान्त नहीं रह सकता और अपने स्वभावमें रमनेका संतोष पा ले तो वह शान्त हो जायेगा, पर ये बाहरी तप क्यों बताये गए? इनका संस्कार बुरा है तो उन संस्कारोको धक्का देनेके लिए ये बाहरी तप करने पड़ते है। करना तो असली है अपने आत्माका स्वरूप जानकर स्वरूपमें रमना, तो यही शील है और जो इस शीलका पालन करता है वही निर्मल तपस्वी है। जो शील है सो ही सम्यग्दर्शन की शुद्धि है दर्शनविशुद्धि। क्या देखना? बाहरमें कौनसी चीज देखनेके लायक है उसका नाम तो बताओ। आप कहेंगे कि हमारे पास इतने सुन्दर बच्चे है, स्त्री है, ये सब देखने के लायक है। अरे ये तो सब हाड़ मांसके पिण्ड है। एक पर्याय मिली है, जन्म मरण करने वाले है, दुःखी है, मगर इस शरीरकी भीतरकी चीजको सोचे तो घृणा आने लगेगी। हड्डी, खून, मांस, मज्जा आदिका यह पिण्ड है। यह देखने लायक वस्तु नहीं है, तो फिर क्या है देखने लायक वस्तु? धम वैभव या बड़ी-बड़ी कोठियाँ? इनसे इस जीवका क्या मतबल रहा? कुछ दिन यहाँ है, मरकर जायेंगे, न जाने किस गतिमें जन्म लेंगे, क्या स्थिति पायेंगे, यह भी सारभूत नहीं है। तो क्या है चीज जो देखने लायक हो?

सुनो, आत्माका जो शीलस्वभाव है यह है देखनेके लायक। वहाँ ज्ञान जावे, उसे दृष्टिमें लिया जावे तो उससे अपना कल्याण है, बाहरमें कुछ भी चीज देखने लायक नहीं है।

(37) आत्माके भीलकी भुद्ध ज्ञानरूपता— अच्छा बाहर में जानने लायक क्या है सो बताओ? हम किस-किसको जाने, किस-किसका ख्याल करें कि हमको शान्ति मिल जाये? खूब सोच लो। किस-किसको ख्याल में रखें कि हमारा कल्याण हो जाये, उसका नाम तो बताओ। संसारमें कोई भी वस्तु नहीं है ऐसी कि जिसका ख्याल रखनेसे आत्माका उद्धार होगा। कोई कहे कि धन-वैभव है उसका ख्याल करो, तो यह सब कोरा ख्याल ही ख्याल है, कल्पना है, भ्रम है, कोई भी वस्तु बाहरमें ऐसी नहीं जो कि ख्याल करने लायक हो, ज्ञान करने लायक हो? किसको जाने? एक तो सर्व पदार्थ विनाशीक है, मेरे साथ संदा रहने वाले नहीं है, फिर उनका ख्याल करनेसे ज्ञान करनेसे क्या लाभ मिलेगा? फिर दूसरे वे पदार्थ भिन्न है, मेरे अधिकारकी कोई चीज नहीं है, फिर उनका ख्याल करनेसे क्या फायदा मिलेगा? तो बाहरमें कोई पदार्थ ऐसा नहीं है कि जो ज्ञान करने लायक हो, ख्याल करने लायक हो जिससे ज्ञानकी शुद्धता बने। अपने आप ज्ञान हो वह बात दूसरी है, मगर लगकर परिश्रम करके पदार्थको जाने तो ऐसा बाहरमें कुछ नहीं है कि जो जानने योग्य हो। जिसके जाननेमें सिद्धि बने। तो फिर क्या है ज्ञानके लायक जिसके जाननेसे ज्ञानकी सिद्धि बनेगी? वह है आत्माका शील। आत्माका स्वभाव ज्ञातादृष्टा मात्र। उसको निरखे तो संसारके संकट मिट जायेगे। मुक्ति प्राप्त होगी, उस तत्वको देखो। तो शील ही ज्ञानकी शुद्धि है।

(38) आत्माके शीलकी अविकाररूपता — शील ही विषयो का शत्रु है। शील मायने स्वभाव मेरा विषयकषाय करने का नहीं है, क्योंकि एक वैज्ञानिक बात है कि जो वस्तु पहले न हो और बादमें आये और फिर न रहे, तो वह वस्तु औपाधिक कहलाती है, नैमित्तिक कहलाती है। स्वभाव से होना नहीं कहलाता। जो बात स्वभावसे हुई हो उसे कोई मेटने वाला नहीं है। तो अब सोचिये कि जो पञ्चेन्द्रियके विषय करनेके भाव बने ये स्वभावसे बने क्या? अभी हुए क्या? थोड़ी देर में मिट जायेगे। कोई कषाय जगी, क्रोध, मान, माया, लोभ तो यह कषाय क्या स्वभावसे हुई? स्वभावसे नहीं हुई। हुई और मिट जायेगी। तो जो मिट जाये, जो औपाधिक हो, विकार हो वहस्वभावसे नहीं होता इसलिए स्वभाव तो अविकार है, स्वभाव तो विकारका दुश्मन है, स्वभावमें विकार होता ही नहीं, ऐसा है यह शील।

(39) आत्मशीलकी मोक्षसोपानरूपता— शील है सो ही मोक्षका सोपान है। जैसे किसी महलपर चढ़नेके लिए सीढियाँ चढ़नी पड़ती है ऐसे ही मोक्ष महल पर पहुंचनेके लिए सीढी क्या है? अपने स्वभाव का मनन, स्वभाव की दृष्टि। स्वभाव का ज्ञान। तो शीलकी बहुत बड़ी महिमा है। यहाँ शीलका क्या अर्थ है? आत्माका स्वभाव। आत्माका स्वभाव है ज्ञाताद्रष्टा रहना। तो ज्ञाताद्रष्टा रहने का बहुत बड़ा महत्व है। जिन भगवान को हम पूजते हैं अरहंत को, सिद्ध को, तो वे अरहंत, सिद्ध हुए कैसे? वे अरहंत सिद्ध हुए हैं सग्न बाह्य पदार्थों का लगाव छोड़कर केवल एक अपने आत्मामें स्थित होनेसे। आत्मस्थितता का बहुत बड़ा प्रताप है।

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावर जंगमाण घोराणां।

सव्वेसिपि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥ 21 ॥

(40) स्पर्शन रसनाके विषयोके लुब्धके उदाहरणसे विषयविषकी यथार्थताका
 — जैसे विषयके लोभी विषयोके वशमें आकर प्राण खोते हैं, ऐसेही विषयोमके मोही ये जीव अपने ज्ञान दर्शन प्राणका घात करते हैं। हाथी कैसे पकड़े जाते हैं? कई उपाय होंगे, पर हाथी पकड़ने का एक मुख्य उपाय है जो कि प्रसिद्ध है। जंगलमें एक जगह बड़ा गड़ढा खोदा जाता है, बादमें उस गड़ढेपर बांसकी पतली पंचे बिछाकर उसको मिट्टी आदिसे पाट दिया जाता है, उस पर कागजकी एक झूठी हथिनी बनाई जाती है और कुछ दूरीपर कागजका एक नकली हाथी, उस हथिनीकी और दौड़ता हुआ, बनाया जाता है। इतना काम होने के बाद अब जो जंगलका हाथी दूरसे उस हथिनीको देखता है सो उसके रागवश और साथही उस दूसरे हाथीसे द्वेषवश हथिनी की और दौड़ता है, वासनाका संस्कार तो उसके था ही सो उसे देखकर उसको गड़ढेका भी ज्ञान खत्म हो जाता है। वह यह नहीं पहिचान पाता कि यहाँ गड़ढा है। वह ज्यों ही हथिनी के निकट पहुँचता त्यों ही वे पंचे टूट जाती और वह गड़ढे में गिर जाता। उसे कुछ दिन उस गड़ढे में पडा रहने देते हैं और जब जाना कि यह दुर्बल हो गया सो कोई रास्ता बना लेते उसके निकालने का और हाथी पर बैठकर उसे अंकुशके बलपर वश में कर लेते हैं। कितने ही हाथी तो अपने प्राण गंवा देते हैं। तो आखिर विषयोके वश होकरही तो गंवाया। मछलियां पकड़ी जाती हैं तो पकड़ने वाले ढीमर लोग जालमें या बंशीमें कोई लोहेका फंदा रखते हैं और वहाँ कुछ मांस चिपका देते हैं कंचुवा वगैरहा, अब वे मछलियां उस मांसपिण्डके लोभमें आकर वहाँ मुँह बा कर जो दबाती हैं तो कंठ छिद जाता है, इस तरहसे मछली पकड़ी जाती है, मारी जाती है। तो आखिर रसनाइन्द्रियके वश होकर ही तो मछलियां अपने प्राण खो देती हैं। अब देखो। ये पञ्चेन्द्रियके विषय कैसे विषरूप हैं? इच्छा होने पर कुछ समयको भी ये जीव धैर्य नहीं रखते, विषयोके वश हो जाते हैं और सर्व कुछ उपाय विषयके कर डालते हैं, मगर विषय सब अनर्थ है, असार है, बेकार है।

(41) घ्राण चक्षु व कर्णके विषयोके लुब्धके उदाहरणसे विषयविषकी यथार्थताका ख्यापन— भ्रमर शाम के समय किसी कमलके फूलमें बैठ गया, अब कमलकी यह प्रकृति है कि रात्रिमें बंद हो जाता है और सवेरा होते ही खुल जाता है, तो जैसे ही कमलमें वह भंवरा आया गंध लेने के लिए और कमल बंद हो गया तो उस भंवरेमें यद्यपि इतनी शक्ति है कि काठको भी छेदे तो उसे छेद कर आर-पार निकल जाये, मगर गंधके लोभमें आकर गंधकी संज्ञा रहनेसे उस फूलके कोमल पत्तोको भी नहीं छेद पाता और उसके भीतर रहकर श्वास न मिलनेसे वह मरणको प्राप्त हो जाता है। तो यह भंवरा मरा तो कैसे मरा? एक घ्राणइन्द्रियके विषयमें मरा। तो विषय कितना विष है जिस विषयविषके पानसे जीवोका ऐसा घात होता रहता है। रोज-रोज देखते हैं आप कि बिजली के बल्ब में कितने कीड़े आ जाते? वहाँ तो चाहे वे छिपकली से बच भी सकें, पर मिट्टी के तैल वाले दीपक में तो पतिंगें आ-आकर जलते ही रहते हैं, उसमें बचनेका क्या काम? आखिर ये पतिंगे भी तो चक्षु इन्द्रियके लोभमें आकर अपने प्राण खो देते हैं। तो विषय कितना विष है? इन विषयविषो में जो लुब्ध जीव हैं वे अपने ज्ञान प्राणका घात करते हैं। हिरण व सांपको तो सुना ही होगा-हिरण पकड़ने वाले व सपेरे लोग बंशीकी मधुर तान या सितार वगैरा सुनाते तो झट ये हिरण, सर्प आ-आकर उसके पास आकर मस्ती से सुनते रहते हैं, अपनी कुछ लीलाये करते हैं, वहाँ मौका पाकर पकड़ने वाले लोग पकड़ लेते हैं। तो वहाँ जो हिरण, सर्प आदिक जीव शिकारियोके चंगुलमें आते तो उसका मूल कारण क्या है? बस वही कणेन्द्रियके विषयका लोभ। तो ये विषय बड़े विष हैं।

(42) शीलविरोधी विषयविषकी अनर्थकारिता— विषयो के जो लोभी जीव हे याने अपने शीलके खिलाफ चलने वाले जीव है वे सब अपने ज्ञानप्राणका घात करते है। सर्व विषोमं विषयो का विष बड़ा भयंकर है। अगर यहाँका विष पी ले कोई तो वह एक बार ही तो इस देह का मरण करेगा, अगला जन्म जो पायेगा वहाँ तो कुछ असर नहीं करता, यह विष तो एक जन्म में असर करता है, मगर विषयोका विष, जो विषयो के लोभी है, विषयोमें आसक्त है उन्हे यह विषयविष जन्म-जन्म में दुःखी करेगा। मरे फिर जन्में, फिर मरे फिर जन्में। फिर विषयोका संस्कार रहा तो वे भव-भव में दुःखी है। इससे उन विषयोसे प्रीति हटाये और अपने शीलस्वभाव में आये। यह बात किसी दूसरे की नहीं कही जा रही, खुदके, अपने आत्माकी, अपने आपकी है। सभी लोग अपने-अपने आत्मापर दृष्टि देकर इसे घटित कर लीजिए कि इन विषयोके वशमं लगे रहे तो हमें सदा संसारके कष्ट भोगने पड़ेगे।

वारि एकम्मि य जम्मे सरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।

विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे।। 22।।

(43) विषयविषपानसे अनेक जन्मोमे आत्मप्राणका घात— जो ऊपरके छंदमें बात कही थी उसीका स्पष्टीकरण कर रहे है कि विषकी वेदनासे जीव मरा तो एक जन्ममें ही मरा, मगर विषयरूपी विषसे जो जीव मरा वह संसारमें जन्म ले-लेकर अनेक बार मरता है। यं विषय ऐसे विष है और तथ्य तो यह है कि जिसने अपने शील अमृतका पान नहीं किया, आत्माका स्वरूप अमूर्त ज्ञानामात्र, शरीरमें इस समय अवस्थित परमात्मतत्व, भगवान जैसा स्वभाव उस स्वरूपको जिसने नहीं देखा, उस स्वरूपका जिसने अनुभव नहीं किया वह पुरुष सुख तो चाह रहा है और भीतर यह सुख स्वरूप है उसका इसे पता है नहीं, सो यह बाहरमें सुख ढूँढता है और पञ्चेन्द्रिय के विषयोको अपने सुखका साधन मानकर उनका संग्रह करता है। फल क्या होता है कि अपने शीलसे उल्टे चल रहे ना, तो शीलसे उल्टी प्रवृत्ति होनेके कारण ऐसे कर्मोका बंध होता जो इस जीवको चिरकाल तक संसारमें भ्रमाते है। कर्म-कर्म तो सब कहते है, पर कर्म असलमें चीज क्या है, इसके बारमें जैनसिद्धान्तके जाननहारको छोड़कर प्रायः पता नहीं। वे तकदीर है, कोई रेखा है, कोई भाग्य है, अनेक शब्दोंमें बोलेंगे, मगर स्पष्टतया जैसे हम कहते है कि यह चौकी है, यह तख्त है ऐसी ही कोई वास्तवमें चीज है क्या कर्म? तो जैन सिद्धान्त बतलाता है, कर्म है। जैसे ये दिखने वाले पदार्थ स्थूल है, पुद्गल है ऐसे ही स्थूल तो नहीं, किन्तु सूक्ष्म ऐसे पुद्गल है कि जो पुद्गल कार्माणवर्गणाये जीवके बुरे दिखने वाले पदार्थ स्थूल है, पुद्गल है ऐसे ही स्थूल तो नहीं, किन्तु सूक्ष्म ऐसे पुद्गल है कि जो पुद्गल कार्माणवर्गणाये जीवके बुरे भावका, शुभ अशुभ भावका निमित्त पाकर कर्मरूप बन जाती है और उन कर्मो का जब उदय होता है तब इस जीवमें अक्स पड़ता है वहाँ इसके एक क्षोभ होता है जिससे यह जीव दुःखी होता है। वे कर्म बंध कैसे जाते है? तो उन कर्मोके बंधनेका कारण है अपने शीलके खिलाफ चलना। हमारा शीलस्वभाव है ज्ञान। उस ज्ञान शीलस्वभावके खिलाफ चलेगे तो कर्म बंधेगे। जन्ममरण करेंगे, संसारमें भ्रमण करते रहना पड़ेगा।

(44) आत्मशीलकी उपासनासे ही आत्मकल्याण— भैया। जब सारा उपाय, सारे साधन, सर्वस्व चीज हममें तैयार है, कल्याणकी बात किसी दूसरी जगह से लाना नहीं है, हम ही स्वयं कल्याणरूप है तो क्यों नहीं अपने में दृष्टि की जाती है? क्यों नहीं अपने आपको ज्ञानमें विभोर किया जाता है? इन विषयकषायोकी भावना को छोड़कर अपने शीलस्वभावकी दृष्टि करनी चाहिए। धर्मका सार क्या है ? जितना जो कुछ भी पढा-लिखा जाता है वह अपने शीलस्वरूप आत्मा को जानकर शीलमें रम जानेके लिये। तो अपना एक

निर्णय बनायें कि सारकी चीज बाहर कही नहीं है। सार चीज है तो मेरे आत्मामें ही है। मेरे आत्मामें बाहर मेरे कल्याणका कही स्थान नहीं है। ऐसा निर्णय करके अपनेमें इस स्वभाव को देखें और ज्ञाताद्रष्टा रहकर अपने शीलकी सत्य पूजा करे, यह कार्य तो आत्माके कल्याणका है, बाकी बाहर कितना भी भटकते रहे, उससे आत्माका न उद्धार है, न अभी भी सुख शान्ति है। इससे एकचित होकर एक निर्णय बनाकर अपने ज्ञानस्वभावकी आराधना का प्रयत्न करे।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।

देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा ।। 23 ।।

(45) विषयासक्त जीवो को चारो गति के दुःखो का लाभ— जो जीव विषयोमें आसक्त है वे नरको में बड़ी वेदनाओ को पाते है, तिर्यच और मनुष्यभवमें दुःखो को पाते है और देवगति में भी दुर्भाग्य को प्राप्त करते है, विषय मायने स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण इन 5 इन्द्रियोके विषयोका सेवना। जैसे अच्छा छूना, अच्छा स्वाद लेना, गंध लेना, रूप देखना, शब्द सुनना और एक विषय मनका है, नामवरी चाहना, कीर्ति चाहना। तो इन विषयोमें जो आसक्त जीव है वे मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि मोक्ष का मार्ग तो अपने केवल आत्मस्वभावकी दृष्टि है किसी परका ख्याल नहीं, परका आश्रय नहीं किन्तु विषयो में तो परपदार्थोका आश्रय है, पराश्रित भावो से, विकारोमें तो परपदार्थोका आश्रय है, जिससे परविषयोके आसक्त जीव चारो गतियोमें दुःख प्राप्त करते है।

(46) विषयासक्त जीवोको पुरस्कृत नरकगतिके दुःखोके दिग्दर्शन— नरको में वेदना है। पहले तो नरकेमें खुद जमीन ऐसही हे कि उसपर रहने से वेदना होती है। बताया है कि हजार बिच्छुओके काटनेसे जितना दुःख होता है उससे भी अधिक दुःख नरककी भूमिमें है, पर एक बात समझे कि उसही नरक भूमि पर देखनेके लिए देव भी जाते है, किन्तु देवोको दुःख नहीं होता। जैसे किसी कमरेकी फर्श में या भीतमें बिजली का करेन्ट आ जाये तो उसको छूने वालेपर करेन्ट आयेगा, उसे दुःख होगा, किन्तु कोई रबड़के चप्पल पहने हो जिसमें बिजली नहीं आती, उसे पहिनकर कमरेमें जाये तो उसे तो करेन्ट न आयेगा। तो ऐसे ही समझिये कि नारकियोका वैक्रियक शरीर इस ढंगका है कि वहाँ भूमि के छूनेसे दुःख होता है, किन्तु देवोका वैक्रियक शरीर ऐसा है कि उस भूमिपर पहुच जायें देखनेके लिए समझाने के लिए किन्तु उनको उस भूमिसे कष्ट नहीं है। तो यह नारकियोके पापका ही तो तीव्र उदय है कि जहाँ नरककी भूति छूनेसे ही इतने कठिन दुःख होते है। ये दुःख तो है ही वहाँ अत्र जल जरा भी नहीं है, भूख प्यास इतनी तेज होती है नारकियो के कि बताया है कि सारे समुद्रका जल भी पी ले तो भी प्यास न बुझे या सारा अत्र भी खा जायें तो भी क्षुधा न मिटे, मगर वहाँ न एक बूंद जल है, न अत्र का एक दाना है। यहाँ तो मनुष्य लोग जरा—जरासी बातमें कष्ट मानते है, यह भी हो, यह आवश्यकता पूर्ण नहीं हुई, पर यहाँ विवेक नहीं है। विवेक तो यह है कि जो भी स्थितिया आये उन सबमें धैर्य रखे, अपना ज्ञान स्वच्छ रखे। हो तो हो, न हो तो न हो, बाहरी पदार्थोसे पूरा तो नहीं पड़ता, मगर मनुष्य गम कहाँ खाते? तो यहाँ तो जरा—जरासी बातमें विचार बनाते है पर नरको में जो जीव पहुचता है उसकी बात तो देखो—चाह बहुत तेज, पर मिलता जरा भी नहीं। तो नरकगतिमें ऐसी तीव्र वेदना है, और भी देखो—वहाँ ठंड गर्मी बेहद पड़ती है, इतनी कि यदि यहाँ पड़े तो मनुष्य जीवित न रह सके, इतनी तीव्र वेदना है वहाँ, मगर उनके शरीरके टुकड़े भी हो जाये, फिर भी वे मरते नहीं। वे टुकड़े फिश्र ज्यो के त्यो पारेकी तरह मिल जाते। जो नारकी मरना चाहते है उनके तिल—तिल बराबर टुकड़े कर

दिए जायें तो भी न मरें, नरको में इतना तीव्र पापका उदय है और फिर नारकी जीव एक दूसरेको देखकर तुरंत हमला करते हैं, मारतें, छेदते, काटते, अग्निमें तपाते, करौतसे काटते, बड़ी तीव्र वेदना भोगनी पड़ती है और फिर इसके अलावा तीसरे नरकतक असुर कुमार जातिके देव जाकर उन्हें भिडते हैं कि कहीं वे शान्त तो नहीं बैठे, ये लड़ते—मरते ही रहे, तो ऐसे कठिन दुःख है नरको में। उन नरकोकी वेदना कैसे मिलती है? विषयोमें आसक्त होनेसे। अब अपने आपपर घटा लीजिए कि हम विषयोमें आसक्त होते हैं तो नरक के दुःख भोगने पड़ेगे।

(47) विषयासक्तिके विवरणमें विशयोका निर्देश— स्पर्शन विषयमें कठिन विषय है कुशील। ब्रह्मचर्य न रख सकना, कामवासना जगना, प्रवृत्ति करना, यह विषयोकी आसक्ति है। रसनाके विषयमें है स्वादपर लट्टू रहना, अच्छा स्वादिष्ट भोजन मिले उसीमें उपयोग रम रहा है। अरे स्वादिष्ट खाया तो क्या, साधारण खाया तो क्या, घाटी नीचे माटी, गलेके नीचे उतरा फिर उसका स्वाद वापिस आता है क्या? वहाँ सब बराबर है, लेकिन मोही जीव रसपर आसक्त है। बड़ा उद्यम करें, खर्च करें, कितने ही प्रयत्न कर—करके विषयो का भोग भोगते हैं। घ्राणेन्द्रिय का विषय क्या? सुगंधित पदार्थ सूंघना। चक्षुरिन्द्रिय का विषय है रूप देखना। यही रूप देखना और ज्यादा चित्त उमड़ता है तो सिनेमाघर में जाकर देखना। कर्णेन्द्रियका विषय है राग रागनी के शब्द सुनना, मनका विषय है नामवरी। ये सभी विषय एकसे एक कठिन है, जिसपर विचार करें वही विषय बुरा लगता है मनका विषय तो बड़ा भंयकर है। न शरीरको जरूरत है न आत्माको जरूरत है, पर यह मन नामवरी, कीर्तिकी चाहमें उलझा रहता है। मेरा नाम प्रसिद्ध हो, दुनियाके लोग मुझे जान जाये। अरे दुनियाके लोग क्या है और तुम क्या हो इसका सही ज्ञान तो बनाओ। जीव, कर्म और शरीर इन तीन चीजोका यह पिण्डोला है, मायारूप है। जो अनेक पदार्थोंसे मिलकर बना है वह मायारूप कहलाता है, क्योंकि और शरीर इन तीन चीजोका यह पिण्डोला है, मायारूप। जो अनेक पदार्थोंसे मिलकर बना है वह मायारूप कहलाता है, क्योंकि वह सब बिखर जायेगा, उसका फिश्च उस रूपमें अस्तित्व न रहेगा। जो कुछ भी दिखता है आंखो से वह सब मायारूप है। आप नाम लेकर सोच लीजिए, ये भीत, किवाड, दरी, पत्थर आदि ये सबभी अनन्त परमाणुओ से मिलकर बने हुए पिण्ड है, जो बिखर जायेंगे उनका अस्तित्व शाश्वत तो नहीं है, सब पर्याय रूप है, इसी तरह पशु—पक्षी, गाय, भैस, मनुष्य आदिक जो कुछ भी दिखते हैं वे सब भी मायारूप है। तो मायामयी संसारमें इस परमात्मस्वरूप भगवान आत्माका क्या नाम? तो ये पञ्चेन्द्रिय के विषय और छटा मनका विषय, इनमें आसक्त रहने वाले जीव नरकगतिमें जन्म लेते हैं और ऐसी वेदनायें सहते हैं।

(48) विषयासक्त जीवोको पुरस्कृत कुमनुष्य तिर्यञ्च कुदेव जीवन के दुःखोके लाभका वर्णन— माही जीव विषयोके अनुरागवश तिर्यञ्च और मनुष्यमें भी उत्पन्न होते हैं तो खोटे दीन दुःखी बनते हैं और विषयोकी लालसा बनाये रहते हैं और उनको मिलते नहीं हैं। विषयोकी प्रीतिका बहुत भंयकर परिणाम है। कभी यह विषयासक्तजीव देवगतिमें उत्पन्न हो तो नीच देव होगा। देवोंमें भी यद्यपि आहार न करनेका, न कमानेके, शरीरमें रोग न होनेका तो आराम है, मगर मन तो उनका भी विकट है। नीच देव हो गए जैसे आभियोग्य और किल्बिषिक। आभियोग्य वे कहलातें हैं। जिनको दूसरे देवोकी आज्ञासे हाथी, घोडा, हंस, गरुड़, आदिक सवारी रूपमें बनना पड़ता है। देखो कैसी कर्मलीला है, अगर कोई नीचा देव बिगड़ जाय कि हम नहीं बनते तो बताओ कोई

दूसरा देव उसका क्या कर लेगा, क्योंकि वे देव मरते हैं नहीं आयुपूर्ण होनेसे पहले। उनको कोई शारीरिक रोग होता नहीं, उनके हाथ-पैर छिदते नहीं, हड्डी वहाँ होती नहीं जोकि मारनेसे टूट जायें, मगर उनमें इतनी हिम्मत नहीं होती कि वे कुछ कर सकें, ऐसा ही उनका कर्मविपाक है कि जिस वाहन की आज्ञा दी उस वाहनरूप बनना पड़ता तो बताओ उसमें उनको मानसिक दुःख है कि नहीं? है। किल्बिषिक देव याने चाण्डालकी तरह नीच माने जाने वाले देव। उनको सब लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, वे तुच्छ देव हैं। तो देवगतिमें भी जन्म हुआ विषयासक्त पुरुषका तो नीच देव होता है। तो ऐसे विषयोमें आसक्त जीवोको इस भवमें भी आराम नहीं और परभवमें भी उन्हें कठिन दुःख होता है। इससे अगर अपना भला चाहिए हो तो विषयोसे विरक्त रहना ही उत्तम है।

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि।

तवसीलमंत कुसली खंपति विसयं विस व खलं।। 24।।

(49) शीलवान कुशल पुरुषो द्वारा विषयविषका परिहार— जैसे धान्य दल गया, चावल और छिलका दोनो मिले हुए हैं या जैसे चावल या गेहूँकी दौंय कर ली गई वहाँ खलिहानमें और भुस व दाने इन दोनोका मेल है। अब जो किसान लोग हैं वे उन दानो को साफ करते हैं याने भुस उडाते हैं तो वह भुस या छिलका कहींसे कहीं चला जाये तो भी उन्हें पश्चाताप नहीं होता क्योंकि वे उसकी कुछ कीमत नहीं समझते, उन्हें तो प्रयोजन होता है चावल या गेहूँके दानोसे, उनका ही वे संग्रह करते हैं, ऐसे ही जो विवेकी पुरुष हैं सो वे अपने आत्मा में देखते हैं कि सार चीज तो आत्मा का ज्ञानस्वरूप है, और बाकी शरीर-कर्म-कषायादिक छिलका-भूसा जैसे सब असार चीजें हैं तो उन्हें फेंकने में ज्ञानी विवेकी पुरुषोको कष्ट नहीं होता। जैसे तेल निकलने पर खली अलग कर दी जाती है, धान्य कुटने पर भुस अलग कर दिया जाता है, ऐसे ही ये पुरुष उन सब विषयानुरागो को फेंक देते हैं, दूर कर देते हैं। जो ज्ञानी हैं, तपश्चरण और शीलसे युक्त हैं वे इन्द्रियके विषयों को ऐसा फेंक देते हैं जैसे गत्रेमें से रस निकालनेके बाद उसका फोक फेंक दिया जाता है अथवा जैसे दवाइयोकी जड़े कूटने के बाद उसका रस निकालकर फोक फेंक दिया जाता है, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपको ग्रहण करते हैं और विकार भावोंको, विषयानुरागो को अपने ज्ञानके बलसे हटा देते हैं। ज्ञानीकी दृष्टिमें विषय ज्ञेयमात्र रहते हैं, जान लिया कि ये भी पदार्थ हैं, ये भी जीव हैं यह पुरुष है यह स्त्री है। वह तो मात्र ज्ञाता रहता है, पर उसके विषयमें विकार भाव, वासना उनके उतपन्न नहीं होती।

(50) विषयासक्त पुरुषोकी कुवृत्तिका आधार विभ्रम— जो आसक्त पुरुष है वे इन विषयोमें इन जड़ पदार्थों में सुख का ज्ञान करते हैं कि मुझको सुख यहीसे मिलेगा, विषयोमें सुख मान रखा है तो उन विषयभूत पदार्थोका ही संग्रह करते हैं, उनपर ही लड़ाई करते हैं। जैसे कोई कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है तो उसे खूनका स्वाद आता है, मगर किसका स्वाद है वह ? जो सूखी हड्डी चबायी, उस सूखी हड्डी के चबाने से खुदके मुखके मसूढोसे खून निकला उसका स्वाद आया और मानता है कि मेरे को हड्डी का स्वाद आया, ठीक इसी तरहसे सब विषयोकी बात समझिये। विषयो के भोगने में जितना भी आनन्द आता है वह सुख आत्माके आनन्दगुणका विकार रूप है। कहीं सुख विषयोमें से नहीं आया, बाह्य पदार्थोमें से सुख नहीं निकला, सुख जो भी हुआ है वह आत्माका सुख स्वरूप है, स्वभाव है, वहाँसे वह सुख पैदा हुआ है, मगर विषयोमें आसक्त जीव मानता यह है कि मेरेको सुख मिला है तो इन विषयोसे मिला है, इसलिए वह विषयोमें प्रीति करता है, विषयोमें आसक्त रहता है, लेकिन जो ज्ञानी पुरुष है उन्होने समझा है कि ज्ञानमे ही सुख

है, ज्ञान में ही आनन्द है अन्यत्र आनन्द नहीं। कभी कोई पुरुष आरामसे बैठा हो, किसीका ख्याल न आता हो, किसी पर क्रोध, मान, माया, लोभ न चल रहे हो, बड़े आनन्दमें घरके दरवाजेपर चबूतरेपर बैठा है, कुछ कर नहीं रहा, उससे कोई पूछता है कि कहां भाई कैसे बैठे? तो वह बोलता कि बड़े आराममें बैठे, बड़े सुखसे बैठे। बताओ वहाँ वह किस बातका सुख भोग रहा? वह उस समय किसी परपदार्थोंमें आसक्त नहीं हो रहा, अपने आपके ज्ञानस्वरूपमें चित्त रमें तो उसको आनन्द जगता है। तो यह ज्ञानी पुरुष इन विषयविकारोंको तुच्छ जानकर उनको अलग कर देते हैं और अपने सारभूत सहज ज्ञानस्वभावकी ही उपासना रखते हैं।

बट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु।

अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥ 25 ॥

(51) सर्वांगसुन्दर होनेपर भी शीलके बिना अमनोज्ञ प्रतिभासित होनेसे शीलके उत्तमताका परिचय— कोई पुरुष कितना ही सुन्दर हो रूपमें तो भी उसके यदि शील नहीं है, क्रोध अधिक करना, घमंड बगराना, छल—कपट करना, लोभ भी बहुत है, दूसरोंको ठगता है, आत्माके ज्ञानकी दृष्टि ही नहीं है तो बतलाओ वह पुरुष भला लगेगा क्या? कोई कितना ही सुन्दर हो, बलवान हो, लेकिन शील नहीं है तो सब व्यर्थ है, वैसे ही व्यर्थ है। प्रयोजनवान तो शीलस्वभाव है। कैसे अंग सुन्दर हुआ करते हैं उसका कुछ वर्णन इस गाथामें है। जैसे उन मनुष्योंके शरीरमें कोई अंग तो गोल सुहावना लगता, जैसे हाथ गोल हो, पैर गोल हो, कुछ अंग टेढ़े सुहावने लगते, जैसे भुजा एकदम गोल हो तो सुन्दर नहीं लगती, किन्तु कहीं ऊँचा, कहीं नीचा हो, जैसे कि पहलवानोंकी भुजाका आकार, वह सुहावना कहलाता है, किसीके अंग सीधे हो, सरल हो तो सुहावने लगते हैं। तो यहाँ बतला रहे कि कैसे ही सुहावने अंग हो, मगर शील नहीं है तो सब बेकार हैं? उनकी कोई कीमत नहीं है। शील स्वभाव है आत्माका। रूप प्रशंसनीय नहीं, किन्तु आत्माका शीलस्वभाव प्रशंसनीय है। कैसे ही अंग प्राप्त हो सबमें उत्तम तो शील है। शील मायने क्या? शान्त रहना, कषाय न करना और अपने आत्माके ज्ञानस्वभावकी दृष्टि रखना, यह शील कहलाता है। तो शील ही उत्तम है, शरीरके अंग उत्तम नहीं। शरीरके अंग क्या हैं? शरीर हाड़, मांस, मज्जा, चाम आदिका पिण्ड है, थोड़ा आकार या रूपका ही तो फर्क आ गया। तो रूप भी क्या? कुछ भी नहीं। एक दिखने मात्रकी वस्तु है, तो कैसी ही सुन्दरता हो, शरीरमें, किन्तु शील नहीं है तो वह भद्दा लगता है, इसलिए सब अंगों में, सारे शरीरमें, सारे ही पिण्डमें उत्तम चीज मिली शील, आत्माका ज्ञानस्वभाव।

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलोहिं।

संसारे भमिदव्वं अरयघरहं व भूदेहि ॥ 26 ॥

(52) मूढ जीवपर कुमत्व्यामोह व विषयव्यामोहकी विपत्तियां— जो मनुष्य विषयोंके तो लालची है और छोटे मदमें मूढ है, मोहित है वे पुरुष अरहट की घड़ीकी भांति संसारके जन्म मरण करके घूमते रहते हैं। देखिये—ये दोनों बड़ी विपत्तियां हैं—(1) विषयोंका लालच जगना और (2) कुमतोमे मोह व प्रेम उमड़ना। विषयोंकी इच्छा न रहे तो यह जीव आनन्दमें बैठा रहेगा, समताका सुख पायेगा, ज्ञानका रस लूटेगा, पर जैसेही विषयोंमें लालसा हुई कि इसमें क्षोभ मच गया, अब यह अनेक परिणाम विकल्प बनाने लगा और उन विकल्पोंसे ऐसी प्रवृत्ति करने लगा कि जिससे संसारका कष्ट ही कष्ट पाता है। तो

विषयोकी तृष्णा हो जाना बहुत बड़ी भारी विपत्ति है और साथ ही यदि छोटे मदमें मोहित हो गया तो वह और भी बड़ी भारी विपत्ति है।

(53) जैनशासन में निरापद होनेकी शिक्षा— जैनशासन तो विषयोसे विरक्ति सिखाता है। इसके पर्व, क्षेत्र, पूजा विधि ये सब इस ढंगके हैं जिनसे शिक्षा यह ही मिलती कि विषयोसे तो विरक्त हो ओर आत्माके स्वरूपमें लीन हो। संसारमें बाहर कही भी सार नहीं है। जिस भगवानको हम पूजते हैं, जिसकी मूर्ति बनाकर उपासना करते हैं उसकी मुद्रा ही देखो लोगोको कैसा उपदेश दे रही है। भगवानकी मूर्ति बोलती कुछ नहीं, मगर अपने आकारसे यह शिक्षा दे रही है कि भाई। जगतमें कोई भी वस्तु देखने लायक नहीं है याने जिसका आश्रय करनेसे, देखने से कुछ आत्मा को शान्ति मिले, ऐसा कुछ भी नहीं है। इसलिए सबका देखना बंद करे ओर अपने आपमें अपनेको देखे। प्रभकी मूर्ति यह शिक्षा दे रही कि जगतमें कोई भी क्षेत्र, कोई भी स्थान जाने लायक नहीं, इसलिए पैरमें पैर फंसाकर पद्यासनसे विराजमान होकर यह शिक्षा दे रहे कि कहाँ जाना है? आत्मामें आओ और आत्मामें रमो, यहाँ ही सब कुछ मिलेगा। हाथपर हाथ रखे हैं, यह मुद्रा शिक्षा दे रही है कि दुनियामें कोई काम करने लायक नहीं, इसलिए किसको करनेका प्रयत्न करना? हाथपर हाथ रखकर, निष्क्रिय होकर अपने आपमें ज्ञानकी ही क्रिया करते रहो। तो जैनशासनके क्षेत्रमें, मुद्रामें, पर्वमें, पूजाविधि में निरन्तर विषयोसे विरक्त होने और आत्मामें लंगने की शिक्षा मिलती है।

(54) कुमत्व्यामुग्ध जीवोका संसारभ्रमण— जैनशासन से बाहर देखो तो भगवानकी कथाये भी ऐसी मिलेंगी कि जिनमें प्रेम राग बसा है, भगवानके स्त्री भी बताते, लड़के भी बताते, उन्हें हथियारसे सुसज्जित भी बताते। भला बताओ वहाँ विरक्त होनेकी शिक्षा कहाँसे मिलेगी? सो जो कुमत्वमें मूढ़ है, विषयोके लोलुपी है, ऐसे पुरुष संसारमें इस तरह घूमते हैं जैसे अरहटकी घड़ियां घूमती हैं। शायद अरहट आप लोगो ने देखा भी होगा, कुवेमें ऐसा गोल चलता रहता है जिसपर रस्सीमें घड़े बंधे रहते हैं, पानी भरकर ऊपर लाते और डालकर फिर नीचे जाकर पानी भरकर लाते, फिर ऊपर डालते, कही—कहीं टीनकी भी धड़िया (डिब्बे) होती है, तो जैसे वे गोल—गोल घूती रहती है, ऐसे ही संसारमें वे जीव घूमते रहते हैं जो विषयोके तो लालची हैं और छोटे मदमें मुग्ध हैं। ऐसा जानकर हे विवेकी जनो! इस बातकी सावधानी रखो कि छोटे मदमें मोहित मत होओ, सही—सही तत्व का स्वरूप समझो और इन्द्रियके विषयोके लालची मत बनो। इन दो आपत्तियोसे हटे रहोगे तो सन्मार्ग मिलेगा और कल्याण होगा।

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरागेहि ।

तं छिंदतिं कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥ 27 ॥

(55) जीवके द्वारा कर्मग्रन्थि लगाना— इस जीवने विषयोके ढंगमें रंगकर अपने आप ही कर्मकी गांठ बांधी। कही ऐसा नहीं है कि कर्म या कोई दूसरा पदार्थ हमसे जबरदस्ती विकार करा रहे हो। दूसरे पदार्थ तो निमित्तमात्र हैं। करता खुद है यह परिणमन अपना। सो निमित्तकी भी बात सुनो— आजकल लोग आश्रयभूत को निमित्त कहकर उस वास्तविक निमित्तका और आरोपित निमित्तका एक दर्जा मानते हैं और इस कारण आज परस्पर विवाद अथवा भ्रम भी रहता है। उसका मतलब यह है कि जैसे हमने क्रोध किया किसी पुरुष पर तो जो भीतर क्रोध नामका कर्म है वह तो है निमित्त और जिस पुरुषपर क्रोध आया वह है आश्रयभूत। आश्रयभूत कारण मजबूत कारण नहीं होता।

अज्ञको कभी ऐसा लगता है कि वह आदमी होने क्रोध हो गया, न होता आदमी तो क्रोध रखा कहाँपर? और परमें या भीतर ही अपने क्रोधसे घुटता रहता। तो आश्रयभूत कारण में अविनाभाव नहीं होता कि उस कारणके होने पर क्रोध होता ही हो और उसके न होने पर क्रोध न होता हो। हाँ, क्रोधका उदय न हो तो क्रोध नहीं होता। तो निमित्त और आश्रयभूतमें तो अन्तर पड़ा ना? तो यह जीव कर्मविपाकका निमित्त पाकर विषय को आश्रयभूत कारण बनाकर कर्मकी गांठ लगाता है।

(56) निमित्त और आश्रयभूत कारणका अन्तर समझनेके लिए एक दृष्टान्त— एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि कोई वेश्या गुजर गई, उसे लोग मरघटमें लिए जा रहे थे, तो उसका जो परिचित यार था कामी पुरुष वह उसको देखकर यह सोचता है कि यह अगर कुछ दिन और जीवित रहती तो मुझे इससे बड़ी मौज मिलती और मुनि महाराज भी देख रहे थे, वे यह सोच रहे थे कि इसने इतना तो दुर्लभ मनुष्यजन्म पाया और विषयोमें अकारथ खो दिया और वहाँ कुछ लड़ैया कुत्ते भी थे तो वे सोचते थे कि ये लोग इसे व्यर्थ ही जला रहे हैं, यदि इसे यों ही छोड़ जायें तो हमारे लिए दो—चार माहका भोजन हो जाये। अब देखो वह तो एक ही वेश्या मृतक है, और तीन जीवोंके तीन तरह के भाव हुए। यदि वह वेश्या किसीके भावका वास्तविक निमित्त होती तो सबके एकसे भाव होने चाहिए थे, किन्तु अलग—अलग भाव हुए तो वह वेश्या निमित्त कारण नहीं, किंतु आश्रयभूत कारण है। जिसके जैसा भाव है, वेश्या को उसने भावके अनुसार एक सहारा बना लिया है। वास्तविक निमित्त तो तीनों जीवोंके साथ तीन तरहके अलग—अलग कर्म हैं जैसे कामी पुरुषके साथ वेदकषायका उदय लगा है जिससे कामविकार का भाव बनता है तो उसने अनुरूप आश्रय बना लिया। मुनि महाराजके चारित्रमोह की प्रकृतियोंका क्षयोपशम है तो उनके वैराग्यरूप परिणाम है सो उन्होंने उसको अपने वैराग्यपरिणाम का आश्रय बना लिया और कुत्तोंको क्षुधावेदनीय का उदय है तो भूख में उसने अनुरूप आश्रय बना लिया। तो इससे यह सिद्ध है कि आश्रयभूत कारण तो काल्पनिक कारण है, बाह्य कारण है, निमित्त नहीं है।

(57) जीवके द्वारा कर्मग्रन्थिका लगाना व स्वयंकी परिणामशुद्धि द्वारा कर्मग्रन्थिका खोलना— यह जीव जो बंधा रहता है, कर्मकी गांठसे बंधता है तो उसमें निमित्त कारण तो पूर्वकृत कर्मका उदय है, मगर बंधा कौन? गांठ किसने लगायी? फंसा कौन रहा? यही जीव। सो यहाँ यह बतला रहे कि इसी जीवने तो उस रागकी, प्रीतिकी गांठ लगायी तो यह ही जीव उस गांठको छोरना भी जानता है। जैसे किसीने रस्सीमें गांठ लगायी तो वह रस्सीकी गांठको खोलना भी जानता है कि किस तरह खोली जाती है। सुनार से सोने चांदी में कोई टांका लगाया तो टांका भी गांठ है तो वह उसको खोलना भी जानता है कि इस जगहसे खोला जाता है ऐसे ही यह जीव अपनेमें गांठ लगाता है तो यह गांठको खोलना भी जानता है। गांठ लगती है विषयोके रागसे और खुलती है ज्ञान और वैराग्य से। ज्ञान और वैराग्य ये दोनो शीलपर आधारित हैं। आत्माका शील हे मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना, ज्ञानस्वभाव, जाननहार रहना। बस इसके आधारपर परिणाम विशुद्ध होते हैं, कर्मकी गांठ छूट जाती है।

उदधीव रदणभरिदो तबविणंयसीलदाणरयणाणं ।

सोहेतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तयं पत्ती ॥ 28 ॥

(58) अप व्रत आदि रत्नोकी शीलसे शोभा— यह शीलपाहुड ग्रन्थ है। इसमें आत्माके शीलका याने स्वभावका वर्णन किया है। आत्माका धन है तो आत्माका शीलस्वभाव। शीलको छोड़कर, स्वभाव की दृष्टि को छोड़कर यदि बाह्य पदार्थोंमें यह लगता है तो यह आकुलित रहता है सो सारी शोभा, समस्त विकास आत्माके शील पर अवलम्बित है। एक दृष्टान्त यहाँ देते हैं कि जैसे समुद्र रत्नो से भरा है, समुद्रका नाम रत्नाकर भी है, जिसमें रत्न पड़े हो वह समुद्र है, पृथ्वीमें भी रत्न पड़े हुए हैं, समुद्रमें भी रत्न पड़े हुए हैं और उनमें रत्न क्या-क्या पड़े हैं? अनेक प्रकारके रत्न जो कुछ होते हैं। तो समुद्र रत्नोसे भरा है और जलमें भी भरा है, अगर समुद्रका जल सूख जाये या जल न हो तो भले ही वे रत्न ऊपर आये हो, मगर उनका महत्व, उनकी शोभा जलके बिना नहीं बनती। ऐसे ही इस आत्मामें तप विनय, शील, दान आदि रत्न भरे पड़े हैं, पर रत्नोकी शोभा जैसे जलके बिना नहीं बढ़ती, ऐसे ही यहाँ शील न हो तो इनकी शोभा नहीं है। शील हो तो उसीके प्रतापसे तप विनय आदिक भी मोक्षके कारण बन जाते हैं। देखिये, धर्मके लिये सब लालायित है। कोई मंदिर आता है, पूजा करता है, दर्शन करता है। धर्मके कोई कार्य हो तो इन कार्योंमें वह लगन रखता है। यहाँ तक कि अपना सर्वस्व भी सौंप देता है, इतना तो बड़ा त्याग लोग करते, परिश्रम करते हैं, पर धर्मका आधार है आत्माका स्वभाव समझ लेना, अपना निरपेक्ष वास्तविक स्वरूप जान लेना, यदि स्वरूप नहीं जान पाया तो जितने भी हम कार्य करते हैं उनसे कुछ पुण्य तो बंध जाएगा, मगर मोक्षका रास्ता न मिलेगा। तो मोक्षमार्ग पानेके लिए आत्मस्वरूप के जाननेका मुख्य कर्तव्य है। आत्मस्वरूपको जाननेके बाद फिश्च जब भगवानकी भक्ति करेंगे तो उनका स्वरूप समझ लेंगे तभी उत्तम भक्ति बनेगी। आत्माका स्वरूप जाननेके बाद व्रत, नियम, उपवास आदिक जो-जो भी धार्मिक क्रियाये की जायेंगी तो वहाँ सही लक्ष्य बन जानेसे सही बनती जायेंगी और एक आत्मस्वरूपको ही न जाने और कुछ भी व्रत, तप आदिक क्रियाये करता रहे तो जितना पुण्यबन्ध हुआ उसके अनुसार मगर मुक्तिका रास्ता आत्माके ज्ञान बिना तीन कालमें भी सम्भव नहीं।

(59) दुर्लभ मनुष्यजीवन में आत्मशीलके परिचयकी नित्य आवश्यकता — यह मनुष्यभव पाया तो सोचिये कितना दुर्लभ नरभव पाया? अनन्तानन्त जीव हैं संसारमें, अनन्तानन्त तो निगोद जीव हैं, जिनका नाम सुनते तो हैं, पर वे दिखते नहीं, सूक्ष्म हैं, हम आपके शरीरमें भी अनन्त निगोद पड़े हैं और जो शकरकंद आदिक हैं उनमें भी निगोद पड़े हैं। जितनी भी सब्जी है, फल है, जब ये बहुत छोटे रहते हैं तो इनमें भी निगोद पड़े रहते हैं, बड़े होनेपर तो नहीं रहते उन फलों में जो भक्ष्य है उनमें भी जब छोटे होते हैं तब तो उनमें अनन्त निगोदियों जीव रहते हैं, लेकिन बड़े हो जानेपर नहीं रहते। जहाँ यह पोल है वहाँपर भी अनन्तानन्त सूक्ष्म निगोद ठसाठस भरे हैं। वे जीव क्या हैं? आखिर हम आप भी तो वैसे ही थे। हम आप भी अनादिकालसे अनन्तकाल तक निगोदमें रहे, वहाँसे निकल आये, प्रथम तो निगोदसे निकलना ही बहुत कठिन था। वहाँसे निकलनेके बाद पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति हुए। तो ये भव भी पाना कठिन था। आप देखते जाइये कितना मंजिल तय करके मह मनुष्य पर्यायमें आये, फिर एकेन्द्रियसे भी निकलकर दोइन्द्रिय हानो कठिन था। फिर तीनइन्द्रिय होना कठिन था, फिर चारइन्द्रिय होना कठिन था, फिर असंज्ञी पेचेन्द्रिय होना कठिन था, फिर संज्ञी पंचेन्द्रिय होना तो और भी अधिक कठिन। उसमें भी नारकी रहे तो क्या, पशु रहे तो क्या, मनुष्य होना बहुत कठिन है। आज हम मनुष्य हो गए, उसीमें हमला कर रहे, कषायोके वश रहे, परिग्रहकी इतनी तीव्र धुन है कि बस वही-वही समाया रहता है और चित पेरशान रहता है। इतना दुर्लभ मनुष्यभव पाया तो

यह निर्णय बनाकर चलें जीवनमें कि मरा सार, मेरा शरण, मेरा सर्वस्व मेरा यह परमात्मस्वरूप है। उसकी दृष्टि होगी तो समझो कि हमें सब कुछ मिल गया और एक अपने परमार्थ स्वरूपकी दृष्टि नहीं है तो ये जड़ पुद्गल यहाँ पड़े ही हैं, मान लिया कि ये मेरे हैं, केवल कल्पनाये बना बनाकर अपना समय गुजार लेते हैं, पर सार कुछ नहीं है। सार तत्व तो अपना आत्मा में अपना स्वरूप है। सो उस स्वरूपपर हमने कर्मकी गांठ बना रखी थी उसे हम ही ने खोला ओर खोलकर जब हमने अपना स्वभाव पहिचाना लिया, एक प्रकाशमात्र ज्ञानमात्र यह मैं आत्मस्वरूप हूँ, जब इस ज्ञानप्रकाश को जान लिया तो बस इस शीलके कारण अब आप जो भी धर्मके कार्य करे, दान, पूजा, व्रत, उपवास, सत्संग, स्वाध्याय आदि, उन सबमें अतिशय आ जायेगा और मोक्षमार्ग के ढंगसे आपकी दिशा चल उठेगी और एक आत्मज्ञान पाया तो जैसे अशुभ कार्योका फल कुगति है, ऐसे ही शुभ कार्यो का फल सुगति है, पर मोक्षफल न मिलगा। इसलिए शीलसहित जो पुरुष है वही इस अनुत्तर सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त करता है।

सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो ।

जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहि ॥ 29 ॥

(60) मनुष्यगतिकी मोक्ष पुरुषार्थके कर्तव्यसे सफलता — चार पुरुषार्थ बताये गए हैं— (1) धर्म, (2) अर्थ, (3) काम और (4) मोक्ष। जिनमें पहलेके जो तीन हैं वे तो साधारण हैं, संसारी जीव कर लेते हैं, पर मोक्ष नामका जो चौथा पुरुषार्थ है वह सच्चा होता, मोक्ष जिनका होगा मोक्ष पुरुषार्थ उनका हो सकता है। तो पुरुषोको ही मोक्ष होगा। आजके इस पंचमकालमें पुरुषोको भी हो पाता मोक्ष, मगर मोक्ष आगे हो सके उसका विधान बना सकता है ना यह पुरुष? सम्यक्त्व तो पा सकता है, ज्ञान तो सही बना सकता है। तो ऐसे धर्मकी साधनामें यह अमूल्य भव पाकर प्रमाद न करना चाहिए।

जइ विलयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो ।

तो सो सच्चइपुत्तो दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥ 30 ॥

(61) विषयलोलुपीकी ज्ञान होनेपर भी दुर्गति— ज्ञान एक बहुत बड़ा सहारा है, किन्तु कोई पुरुष चारित्र तो पाले नहीं, विषयोमें लालची रहे और ज्ञान उसने पाया हो तो क्या ज्ञानसे मोक्ष हो जायगा? यदि ज्ञानसे ही मोक्ष होता हो, संयम और चारित्र की आवश्यकता न हो तो 11 अंडुं 9 पूर्वके धारी 10 वां पूर्व भी सिद्ध करने वाले जैसे रुद्र, सात्यकीपुत्र महादेव, इतने बड़े ज्ञानी होकर आखिर अपने व्रतसे व्युत हुए और उन्हे खोटी गतियोमें जन्म लेना पड़ा। आज जितने भी अन्य लोगो के यहाँ बड़े भगवानके रूपमें माने जाते हैं उन सबकी कथा जैनशासन में भी है। विष्णु, महादेव, ब्रह्मा, और देवी—देवता सबकी कथा अपने यहाँ है और ये भव्य जीव भी हैं, और आगे मोक्ष भी जायेंगे। पहले जैनधर्म के वे उपासक भी थे, महादेव तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर थे। ऐसा अन्य लोग भी मानते हैं कि पाणिपात्र थे याने हाथमें ही भोजन करते थे, दिगम्बर थे, नग्न थे, तपस्वी थे और विशेषतया कैलाशपर्वत पर उनका तपश्चरण चलता था, उनको 11 अंडुं 9 पूर्व तकका ज्ञान हो गया, अब 10वां पूर्व सिद्ध हुआ तो 10 वे पूर्वमें बहुतसे देवी—देवता सिद्ध होते हैं। तो देविया आयी अपने सुदंर श्रृगांर में और महादेव दिगम्बर मुनिसे कहा कि आप जो आज्ञा दे दीजिए मैं वही काम करूँ, बस वे वहाँ विचलित हो गए और विचलित होनेके बाद फिर अपना विवाह भी कराया पर्वत राजाकी पुत्री पार्वतीसे, फिर और आगे यह कथानक बढ़ता गया, खैर जो भी हो, मगर वह महादेव निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु थे, भले मुनि थे, और इतना विशाल ज्ञान

पाया था, पर यहाँ यह बतला रहे कि ज्ञानसे ही तो मोक्ष नहीं मिलता, संयममें दृढ़ रहना, संयमकी साधना ठीक रहती तो मोक्ष होता। तो जो विषयोके लोलुपी जीव है, और ज्ञान सहित है तो सिर्फ ज्ञानसे भी मोक्ष नहीं होता जब तक कि विषयविरक्ति न हो और संयम साधन न हो।

जइ गाणेण विसोहो सीलेण विणा वुहेहिं णिद्धिदो ।

दसपुव्वियस्स भावो यणु किं पुणु णिम्मलो जादो ॥ 31 ॥

(62) शीलके बिना ज्ञानसे सिद्धिकी असंभवता— शील बिना सब बेकार है। अब व्यवहारशीलको देखो—व्यवहारशील मायने ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्यका पालन हो तो मन ठिकाने रहता है, वचन ठिकाने रहते हैं, शरीर में बल भी रहता है, उसके धैर्य रहता है, विवेक और ज्ञान भी रहता है। शीलरहित हो तो मनका बल भी खत्म, वचनबल भी नहीं रहता, देहबल भी नहीं रहता, आयु भी बहुत पहले नष्ट हो जाती है, लोकमें इज्जत भी नहीं मिलती। तो जब व्यवहारशील का ही इतना प्रताप है तो फिर निश्चयशील अर्थात् आत्मा का सहजस्वभाव, उसकी दृष्टि हो, उसका आवम्बन हो, उसरूप अपनेको अनुभवे तो उसका प्रताप है मोक्ष होना। मोक्षमें यह आत्मा किस ढंगसे रहती है कि न तो वहाँ शरीर है, न उसके साथ कर्म है, न उसमें विकल्प विचार तरंग उठती है, केवल ज्ञानमूर्ति आत्मा है। ज्ञानके द्वारा तीन लोक तीन कालके सर्व पदार्थ ज्ञानमें रहते हैं, पर जरा भी क्षोभ नहीं है, जरा भी वाञ्छा नहीं है और न उस ज्ञान द्वारा जानकारीमें उनका कोई लगाव है, शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। ऐसा शुद्ध होना किस बातपर सम्भव होता है कि इस संसारमें यह आत्मा अब भी सबसे निराली है, इसका स्वरूप अलग है, जो ज्ञानमय स्वरूप रूपसे अपना अनुभव बनाये कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ तो उसको मोक्षमार्ग मिलेगा। धन्य है वे क्षण कि जिस क्षण इस जीवको यह अनुभवे बने कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञानमात्र अनुभव बननेके बाद उत्कृष्ट शान्ति मिलती है। जरा अपना उपयोग भी कुछ अंदर ऐसा ले जाकर निरखिये तो जरा कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, तो अपनेको स्वयं यह भान हो जयेगा कि इस ज्ञानमात्र मुझ आत्माका दूसराकुछ है ही नहीं। सर्व पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। परिवार, धन—वैभव, इज्जत, प्रतिष्ठा ये सब उसे माया जचेंगे और इन वृत्तियों पर उसे हंसी आयेगी कि कैसा तो यह अनन्त आनन्दका निधान परमात्मस्वरूप है और कहाँ यह संसारकी बातोंमें फंस रहा है।

(63) आत्मशीलका परिचय होनेपर शीरुचि होनेसे बाह्य तत्वो के परिहारमें अप्रमाद— जब तक यह जीव इन विषयोका लालची है, इनमें आसक्त है तब तक इसे ज्ञान भी हो तो भी उससे शुद्धि नहीं हो सकती। शीलके बिना निर्मलता नहीं जगती। बड़े-बड़े ज्ञानी हुए, मगर संयममें जब तक नहीं आये, अपने स्वभावमें मग्न जब तक नहीं हुए तब तक उनको शान्तिका रास्ता नहीं मिला। तो इस तत्वको पानेके लिए जरूरत है ज्ञानकी। हमें अपना ज्ञान ही न हो तो हम अपने स्वभावमें कैसे टिक सकते? तो जिस जिसपर प्रेम होता है उसके लिए आप अपना सर्वस्व समर्पण कर सकते हैं। जैसे आपका कोई बच्चा बीमार हो जाये तो आप उसके पीछे अपना सारा धन खर्च करनेको तैयार हो जायेंगे। यहाँ तक कि कर्ज लेकर भी उसका उपचार करायेगे, क्योंकि आपकी दृष्टिमें आपका बच्चा ही सब—कुछ है, पर तथ्य नहीं है ऐसा। तथ्य यह है कि इस आत्माके लिए आत्माका सही ज्ञान होना यही सब—कुछ है। तो जिसने इस ज्ञानका अनुभव करके आनन्द पाया उसका दृढ़ निर्णय है कि मेरा शरण यह ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं है। उसका प्रकाश मिले, उसका ज्ञान मिले, चाहे उसके लिए ही अपना तन, मन, धन, वचन सर्व कुर्बान हो

जाये, पर मेरी आत्माका वास्तविक स्वरूप मेरे ज्ञान में आ जाये तो समझो कि मैंने सर्वस्व प्राप्त कर लिया। आखिर मरनेके बाद यह झमेला एस सूतमात्र भी नहीं जाता। थोड़े दिनोंका जीवन है और अनन्तकालकी यात्रा पड़ी है। समय तो अमियाद है, किसी दिन समय खत्म होगा क्या? कभी खत्म न होगा। इस लोकको तो कही हद मिल जायेगी कि इसके बाद दुनिया नहीं है, मगर समयकी हद नहीं है कि इसके बाद अब समय नहीं है। इतने समय तक हमें रहना है आगे भविष्यमें अनन्तकाल के लिए और यह जो 10-20-50 वर्षोंका जीवन मिला इसमें ही यहाँके मिले हुए समागमोंको हम अपना सर्वस्व समझ लेते हैं, राग करते हैं, इसीमें उलझ जाते हैं तो उसके फलमें हमारे भविष्यका अनन्तकाल सारा दुर्गतियोंमें जायेगा। तो आज क्यों नहीं चेतते, एक दृढ़ संकल्प बना ले कि मेरे लिए मेरे आत्माके सिवाय सब—कुछ तुच्छ है। धन—वैभव कुछ चीज नहीं है। गुजारेके लिए गृहस्थीमें रहनेके कारण उसका उपाय बनाया जाता, उसका इतना ही प्रयोजन है कि ये प्राण इस शरीर में टिके रहे तो मैं सयंमकी, ज्ञानकी, चारित्रकी, धर्मध्यानकी साधना बनाये रहूंगा, केवल इस ध्येयसे थोड़ा बहुत प्रयत्न है गृहस्थ का, पर ज्ञानी गृहस्थ केवल एक निज ज्ञानस्वरूपसे ही रुचि रखता है, संसारके किसी भी झमेलेमें वह अपनी रुचि नहीं रखता। तो शील ही आत्माका शरण है। उस आत्मस्वभाव का ज्ञान करें और उसकी रुचि बनाये, उसके लिए सत्संग और स्वाध्याय बहुत ऊंचे तप है।

जाए विसयविरतो सो गमयदि णरयपेयणा पउरा।

ता लेहदि अरूहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥ 32 ॥

(64) विषयविरक्त शीलरुचिक ज्ञानीका प्रताप— आत्माका शरण आत्माका शील है। शील अर्थात् स्वभाव। आत्माका अपने आप अपनी सत्ताके कारण जो स्वरूप पाया जाता है वह आत्माका शील है, वह क्या है? प्रतिभास। चेतना, चैतन्य, इस शीलकी जो दृष्टि रखता है, इस शीलकी जो रुचि रखता है वह पुरुष ही निर्वाण पा सकेगा। शीलसे रहित पुरुष निर्वाण न पा सकेगा। इस गाथा में शीलकी महिमा बतायी जा रही है। कौन सा शील? परमार्थशील। यद्यपि लोकरुद्धिमें शील ब्रह्मचर्यको नाम है और वह भी कुशीलसेवन न करना, विषयप्रसंग न करना, इसमें रूढ़ है कि वह सहयोगी है। यदि कोई व्यवहारशील ही नहीं रखता और कामविकारके वश होकर परस्त्री, वैश्या आदिके विकल्प बनाये रहता है उस पुरुषको तो निर्वाणके रास्तेका भी अधिकार नहीं। सो व्यवहारशील तो होना ही चाहिए, पर इतने मात्रसे निर्वाण नहीं मिलता, किन्तु जो परमार्थशील है, आत्माका ज्ञानस्वरूप है उसे अपने आपको यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस प्रकार का अवलोकन करना, अपनेको अनुभवना यह है शील का पालन। उस इस शीलका ऐसा माहत्म्य है कि जो भी विषयविरक्त शीलधारी पुरुष कदाचित् पहले आयुबंध के कारण नरकमें गया हो तो नरकमें भी इस शीलकी दृष्टिके कारण दुःख कम हो जाते हैं। जैसे यहाँ ही अनेक लोग हैं एकसा बुखार है, एकसा कोई रोग है, फिर भी कोई मनुष्य तो बड़ी बुरी तरहसे तड़पते हैं और कोई शान्तिसे पड़े रहते हैं, किसी में धीरता नहीं है किसी में धीरता है। तो यहाँ कारण क्या रहा? ज्ञानका विकास। जिसने अपने ज्ञानका उपयोग नहीं किया, घबड़ाया, रागद्वेष मोहभावमें बढ़ा वह अधीर हुआ, तो यहाँ भी तो अंतर पाये जाते हैं। तो कोई ज्ञानी जीव पूर्वकृत कर्मके उदयसे नरकमें गया हो तो शीलके प्रतापसे, उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टिके प्रतापसे वहाँ भी दुःख कम हो जाता है। दुःख का सम्बंध मान्यतासे अधिक है, बाहरी बातोंसे नहीं है। बाहरी बात एकसी बीत रही है, फिर भी कोई दुःख अधिक मानता है कोई कम। तो मानने का दुःख होता है। उन नरको में कोई ज्ञानी जीव है शीलरुचिक है नारकी

तो वहअपने ज्ञानबलके कारण उसकी मान्यता कम रखता है, ज्ञाताद्रष्टा रहता है, जानता है कि यह कर्मों का उदय है, ऐसा हो रहा है इस ज्ञानबलसे उसका दुःख कम हो जाता है।

(65) आत्मशीलकी महिमा— और भी शीलकी महिमा देखो—किसी पुरुषने पहले तो नरकायुं बांध ली हो, बाद में सम्यग्दर्शन हो और तीर्थकर प्रकृतिका भी बंध कर लेवे तो ऐसा पुरुष जब मरणकाल आयेगा तो उसके यदि क्षायिकसम्यक्त्व नहीं है तो सम्यक्त्व मिटेगा, नरक जायेगा ओर वहाँ फिर तुरत ही सम्यक्त्व हो जायेगा और अगर क्षायिक सम्यक्त्व है तो सम्यक्त्व न छूटेगा और सम्यक्त्व साथ लेकर नरक जायेगा। नरकायु व्यतीत करनी पड़ेगी। देखो नारकी है वह जीव, पर सम्यग्दृष्टि है, तीर्थङ्गुर प्रकृति का बंध वहाँ भी चल रहा है। तीर्थकर प्रकृतिका बंध वहाँ भी चल रहा है। तीर्थङ्गुर प्रकृतिका बंध मनुष्यगति को छोड़कर अन्य गतियों में प्रारम्भ नहीं हो पाता। प्रारम्भ मनुष्य ही करते हैं, पर अन्य गतियों में प्रारम्भ किए हुए तीर्थङ्गुर प्रकृति का बंध नवीन—नवीन चलता ही रहता है। वह नरकमें है, तीर्थङ्गुर प्रकृतिके परमाणु भी, वर्गणाये भी बंध रही है, अपने ज्ञानबलको सम्हाले हुए है जिससे दुःख कम है, मगर कुटना पिटना वहाँ भी जारी है। वह तो नरकभूमिका रिवाज है ऐसा किन्तु अन्तमें जब 6 महीने बाकी रह जाते उस नरक आयुके, तबसे यहाँ तो जिस नगरीमें उत्पन्न होना है वहाँ रत्नवर्षा होने लगती है और नरकोमें देवता लोग पहुंचते हैं सो वहाँ एक कोट रचते हैं जिसमें वह नारकी आराम से रहता है, उसे कोई सता नहीं सकता, और वह नरकायु पूर्ण करके यहाँ तीर्थङ्गुर भवमें आता है। मनुष्य हुआ तीर्थङ्गुर प्रकृति वाला और उसके गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक ये सब मनाये जाते हैं, तो यह सब किसकी महिमा है? शीलकी।

(66) आत्मशीलकी ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्वरूपता— अच्छा, जरा अपने आपमें सोचकर जरा विचार तो करो कि दुनियामें ऐसा कौनसा पदार्थ है कि जिस पदार्थको हम ध्यान में रखे रहें तो हमको निराकुलता मिलती रहेगी? आप नाम ले लेकर सोच लो, क्या घर ऐसी चीज है कि जिसको आप दिलमें बसाये रहेंगे तो आपको शान्ति मिलती रहेगी? नहीं है ऐसा। घरमें रहकर भी आप गुस्सा करते हैं, व्यग्र होते हैं, झुंझलाते हैं, बिना खाये चले जाते हैं, वहाँपर भी कोई आकुलता व्यग्रता है ना? कौनसी वस्तु है ऐसी जगतमें जिसका ध्यान रखे तो निराकुलता हो। स्त्री, पुत्र, परिजन, भाई, बन्धु आदिक कोई नहीं है ऐसे कि जिनको ध्यानमें रखे रहें तो निराकुलता हो? ये बातें सब जानते हैं। अधिक बतानेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि आप सब लोग उनको भोग रहे हैं। तो कौनसा पदार्थ ऐसा है कि जिसका ध्यान रखें कि निराकुलता हो? कोई पदार्थ न मिलेगा। एक आत्माका शील, आत्माका स्वभाव, आत्मस्वरूप ही एक ऐसा सार तत्व है कि जिसको ध्यानमें ले तो निराकुलता बनी रहे और इसके बाद फिर अरंहत सिद्धका स्वरूप उसको ध्यानमें ले। तो देखिये परमार्थतः जब भक्ति हो रही तब पूर्ण निर्दोषता या पूर्ण वीतराग नहीं जग रही, मगर प्रभुकी भक्ति इसलिए धन्य है कि उनके गुणोका स्मरण करनेके प्रभावमें हम अपने आपके आत्माके शील तक पहुंच आते हैं। सर्वोत्कृष्ट तत्व है तो आत्माका शीलस्वभाव ज्ञानस्वरूप। इसकी दृष्टि बनानेकी सोचिये। इस आत्मस्वभावमें रमनेका प्रोग्राम बनावे, बाकी तो यह सब झमेला है और बेकार है। ज्यों—ज्यों दिन बीतते जाते हैं त्यों—त्यों कुछ से कुछ बदलकर खटपट चलते रहते हैं। कोई सार नहीं है लगाव में। इस जीवनका लक्ष्य बनावें कि हम अपने आपके शीलस्वभावमें रमते रहे। बाहरमें कुछ भी पदार्थ रम्य नहीं है, इसलिए इन सबसे हटकर आत्मामें ध्रुव सदा रहने वाले एकस्वरूप स्वभावतः जिसमें प्रतिभास प्रतिभास ही परिणाम चलता है उस स्वभावको अपना मानो कि यह मैं हूँ और इस स्वभावमात्र

आत्माक जगत में है क्या, ऐसा जाने और इस शीलके प्रति रुचि जगे। इस ही की यह महिमा है कि तीर्थङ्गुर होकर मोक्ष गए। तीर्थङ्गुर भी अरंहत है, पर वे विशेष है तीर्थ करने वाले, पर अन्तिम मंजिल है सिद्धगति याने गतिरहित आत्मपदकी प्राप्ति। यह शुद्धता शीलस्वभावकी दृष्टिसे होती है।

एवं बहुष्यांर जिणेहि पञ्चकखणाणदरसीहिं ।

सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहि ॥ 33 ॥

(67) शीलसे ही आत्माके सहज अतीन्द्रिय आनन्दकी संभूति— जिनेन्द्रदेवने शीलके द्वारा मोक्ष पदका लाभ बताया। वह मोक्षपद कैसा है और शील पद कैसा है जो इन्द्रियके द्वारा नहीं जाना जाता, फिर भी शील अतीन्द्रिय आनन्दमय है। जिसके इन्द्रिय नहीं उसको अद्भुत अलौकिक परमार्थ आनन्द प्राप्त होता है। लोगो को यह भ्रम है कि आनन्द किसी बाहरी पदार्थसे मिलता है। किसी भी बाहरी पदार्थसे कुछ भी मेरे आत्मामें त्रिकाल आ ही नहीं सकता। स्वरूपकी पर्याय ही ऐसी है, मेरेमे जो आयेगा वह मेरेसे आयेगा, किसी दूसरे पदार्थमें से निकलकर न आयेगा और फिर ये इन्द्रियके विषयभूत जड़ पदार्थ इनमें आनन्द भरा ही कहाँ है? आनन्दगुण तो चेतनमें हुआ करता है, जड़ पदार्थोंमें आनन्दगुण होता ही नहीं, फिर वहाँसे आयेगा आनन्द इसका तो विचार ही न करना, कुछ अवकाश ही नहीं है सो बाह्य पदार्थों से आनन्द नहीं मिलता। आनन्द तो स्वयं आत्माका स्वरूप है। जैसे यह आत्मा अपने स्वरूपसे सहज प्रतिभासमात्र है ऐसा ही उपयोग बने तो आत्माको आनन्द अपने आप है और यही आनन्दगुण उपाधिरहित होने पर सिद्ध भगवन्तमें एकदम अनन्त प्रकट है। तो यह आत्माका शीलपद और आत्माका वह मोक्षपद यह इन्द्रियसे अतीत है और अतीन्द्रिय आनन्दसे भरा हुआ है, तो यह बात जिनेन्द्रदेवने बतायी, जिसका ज्ञान और दर्शन अनन्त है ऐसे सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनि यह बात है। यह मनुष्य धन्य है जिसकी रुचि आगमके प्रति बढ़ती हुई है और प्रभुताके लिए भीतरसे एक उत्सुकता लग रही। तो जो अपने आपमें हो सो ही मिलेगा। मुझे बनना नहीं है कुछ, कुछ भी भाव बने आराध्य सिद्ध भगवन्त अक्षातीत है और यहाँ आत्माका यह शील अक्षातीत है।

(68) आत्मशील निरखकर विषवरक्तिपूर्वक आत्माचरणद्वारा समृद्धिसंपन्नता—आत्माका स्वभाव और सिद्धभगवान यह एक ही तो बात है। स्वभाव ढका है। उसका नाम है संसारी, और स्वभाव ढका न रहा, प्रकट हो गया पर्यायमें, उसका नाम है सिद्ध भगवान। इसी प्रकार तो ममस्वरूप है सिद्ध समान। सिद्ध भगवानके समान अपना स्वरूप है, तो उसकी और दृष्टि करें। यहाँ बच्चोके कारण अपनेको आप समझते कि मैं बच्चे वाला हूँ, बड़ा अच्छा हूँ या धनवैभव के कारण बड़ा समझते, मेरी अच्छी स्थिति हे ऐसा समझते, पर ये तो सारे विरूप है, भ्रम है, इनमें तत्व न मिलेगा। आत्मा का शीलस्वभाव जानकर उसका लक्ष्य करके अपने में गौरव अनुभव करना कि मैं यह हूँ परमात्मतत्व, उसको प्राप्ति होगी स्वरूपको, लेकिन जो विषयोसे विरक्त है वे ही पा सकेंगे। जो विषयोमें आसक्त है वे इस स्वरूपको नहीं प्राप्त कर सकते। देखिये, छोड़ना तो सबको पड़ता है, सब कुछ छोड़ना पड़ेगा, पर कोई ज्ञान करके यहाँ ही जिन्दा अवस्थामें त्याग करके या उस बीच रहकर छोड़ देता। ममता त्याग दी वह भला है और मरकर छोड़ना ही पड़ा दुःखी होकर तो वह छोड़ना क्या कहलाया? आगे जाकर दुःखी होना पड़ेगा।

(69) मरणसे पहिलेही विशयममत्व त्यागनेमें लाभ — एक वेदान्त की टीकामें कथा आयी है कि कोई एक भंगिन मलसे भरा हुआ टोकरा लिए जा रही थी, खुला हुआ

मल होनेसे बहुतसे लोग कष्ट मान रहे थे सो एक दुकानदारने उसको ढाकनेके लिए एक साफ स्वच्छ चमकीला तौलिया दे दिया यह सोचकर कि जिससे किसीको वह मल देखकर कष्ट न हो। जब तौलिया ढककर लिए जा रही थी वह भंगिन मल का टोकरा तो उसे देखकर तीन व्यक्ति उसके पीछे लग गए। सोचा कि देखना चाहिए कि इस टोकरेके अंदर कौनसी ऐसी चीज है जिसको बहुत स्वच्छ चमकीले तौलियासे ढाक रखा है। सोचा कि इसमें शायद कोई बढ़िया चीज ही होगी। सो जब तीनों व्यक्ति भंगिनके पीछे लगे हुए थे तब उन्हें देखकर भंगिनने पूछा—आप लोग हमारे पीछे क्यों लगे हैं? तो वे व्यक्ति बोले—हम लोग देखना चाहते हैं कि इस टोकरेमें तुम क्या लिए जा रही हो। तो भंगिन बोली—अरे इसमें तो मल है, तुम क्यों बेकारमें पीछे लगे हो? तो इतनी बात सुनकर उन तीनों में से एक व्यक्ति लौट गया। उसने समझ लिया कि यह ठीक कह रही है। दो को अभी भी विश्वास न आया। फिर भी पीछे लगे रहे। फिर भंगिन ने पूछा—भाई तुम मेरे पीछे क्यों लगे हो? तो वे बोले—‘हम तो तुम्हारी बात नहीं मानेंगे, हमें इसे खोलकर दिखा दो। देख लेंगे तब विश्वास हो जायेगा और लौट जायेंगे। भंगिनने तौलिया उघाड़कर दिखा, उसे देखकर दूसरा व्यक्ति भी वापिस लौट गया। तीसरा व्यक्ति अभी भी उसके पीछे लगा रहा, उसे अभी भी विश्वास नहीं हुआ। फिर भंगिन बोली—भाई तुम अभी भी मेरे पीछे क्यों लगे हो? तो वह तीसरा व्यक्ति बोला—हमने अभी दूर से ही तो देखा, अभी विश्वास हमें नहीं हुआ, हम तो भली—भांति सूंघ—सांघकर परीक्षा करके देख लेंगे तब वापिस लौटेंगे। आखिर भंगिनने तौलियो उघाड़ा, उस व्यक्ति ने भली—भांति सूंघ—सांघकर देख लिया तब वापिस हुआ। तो उस वेदान्तकी टीकामें यह दृष्टान्त देकर बताया कि यहाँ विषयोके लोलुपी पुरुष कुछ तो ऐसे हैं कि जब एकदम परेशान हो जाते या मरण कर जाते तब ये विषय उनसे छूटते हैं, कुछ ज्ञानी ऐसे भी हैं कि जो उपदेश मात्रसे ज्ञान जगता है और छोड़ते हैं, ऐसे ही इन भव्य जीवोंमें कुछ तो ऐसे हैं कि भोगोके भोगे बिना वस्तुके स्वरूपको जानकर अपने आत्माके स्वरूपको, स्थितिको, भविष्यको, भूतको सब विधियोंसे पहिचान कर विरक्त होते हैं और आत्मामें शीलमें स्वभावमें, स्वरूपमें रमकर निर्दोष रहा करते हैं। तो कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि इन विषयोको भोगकर बादमें विरक्त होकर त्याग देते हैं वे दूसरे मित्रकी तरह हैं तो कुछ ऐसे विषयासक्त होते हैं कि मरणपर्यन्त तक भी नहीं छोड़ सकते हैं, मरेंगे तब ही छूटेंगे। तो आप यह बतलाओ कि मरणके बाद तो फैसला हो ही गया कि यहाँका कुछ साथ न रहा, अब इतने थोड़ेसे समयके लिए वैभवोंमें परवस्तुओं में ममता बढ़ाना यह तो अगले भवके लिए दुःख मोल लेना है।

(70) अपना वर्तमान परिचय व मोहनिद्रा में लम्बे स्वप्न — ये सारे पदार्थ भिन्न हैं, अंसार हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इनमें लगाव रखनेका कोई प्रसंग भी नहीं, सम्बंध भी नहीं, पर यह जीव अपने आत्मामें शीलका परिचय न पाने के कारण इन बाह्य विषयोंमें लगाव रखते हैं और ऐसे कुशीलमें सारी जिंदगी बिताते हैं, उसका फल यह होता है कि संसारमें जन्ममरण करते हैं। अभी यहीं देख लो कि ये संसारी जीव कर क्या रहे हैं? जैसे पूछते हैं कि भाई आपका नाम क्या है, आप रहते कहाँ हैं और क्या काम करते हैं? ये तीन बातें जाननेकी इच्छा तो होती है कमसे कम। तो जरा इन संसारी जीवोंसे भी पूछो कि भाई तुम्हारा नाम क्या है, तुम कहाँ रहते हो और तुम क्या किया करते हो? तो वहाँ उत्तर यह होना चाहिए कि मैं कर्ममलीमस एक जीव हूँ, अपने ही प्रदेशोंमें रहता हूँ और विषयकषाय विकार आदिकके ऊधमका रोजगार किया करता हूँ और इस रोजगार का फल क्या मिल रहा है? इस संसारमें जन्ममरण। जन्मे, मरे और इस जन्ममरणके बीचकी जो जिंदगी है उसमें निरंतर कष्ट उठाया। जैसे सोये हुए पुरुषको कोई स्वप्न आये तो उस कालमें उसे

वह झूठा नहीं मानता। जिसको स्वप्न होता है उसको उस समय स्वप्नमें देखी हुई बात एकदम सत्य प्रतीत होती है। जैसा स्वप्न आया वैसा भीतरमें हर्ष विषाद करता रहता है। तो यह तो है आंखके नींदका स्वप्न। और यह 10-20-50 वर्षोंका जो कुछ भी समय है यह है मोहके नींदका स्वप्न। जैसे उस आंखकी नींद वालेको स्वप्नकी बात झूठ नहीं लग रही थी, जगनेके बाद झूठ लगी, सोनेके समय तो झूठ नहीं लगी, ऐसे ही मोहके नींदकी ये सारी बातें—यह परिवार है, यह वैभव है, यह दुकान है, यह कमाई है, यह इज्जत है, यह प्रतिष्ठा है, ये सब बातें सच्ची लग रही है। जब तक मोहकी नींदमें सो रहे तब तक ही ये बातें सच्ची लग रही। जब यह मोहकी निद्रा भंग हो जाती है योन ज्ञान जग जाता है, वस्तुके स्वरूपका सही ज्ञान हो जाता है कि मैं आत्मा वास्तवमें क्या हूँ, इस शील स्वभावका जब परिचय हो जाये तब उसे यह ज्ञात होता है कि मेरी वे सब बातें झूठ थी।

(71) मोहनिद्राके दृष्टान्तपूर्वक मोहनिद्राके स्वप्नोका चित्रण — एक दृष्टान्त यहाँ देते हैं कि किसी एक आदमीको सोते हुएमें स्वप्न आया कि मुझे राजा ने 100 गायें इनाम में दी है। अब वह उन 100 गायोंको बांधता है, खोलता है, उनकी सेवा करता है, खिलाता पिलाता है। उस समय स्वप्नमें वह यह तो नहीं समझ पा रहा कि यह सब झूठ है, स्वप्न की बात है। उसे तो सब सच लग रहा। उसी स्वप्नकी बात कर रहे वहाँ कोई ग्राहक गायें ख़ारीदने पहुंचा, पूछा—भाई ये गायें कितने—कितने रूपयेमें दोगे? तो वह बोला — 100-100 रूपयेमें। उस समय सस्ता जमाना था। सो 100-100 रू० की बात सुनकर वह ग्राहक बोला—50-50 रूपये में दोगे? नहीं। फिर कितने—कितने में दोगे? ...90-90 में। ...क्या 60-60 रू० में नहीं दोगे?हाँ नहीं देंगे। ...फिर कितने—कितने में दोगे ? ...80-80 रू० में। अगर देना चाहो तो 70-70 रू० में दे दो। नहीं देंगे।तो हम नहीं लेंगे। (चल दिया) ...अरे सुनो तो सही।नहीं सुनते। इसी प्रसंगमें उसकी नींद खुल गई और क्या देखा कि अरे यहाँ तो कुछ नहीं, ये सब स्वप्न की बातें थी, पर यह सोचकर कि करीब 1400 रू० जा रहे सो आंखे मीचंकर बोलता है—अच्छा भाई लौट आओ, 70-70 रूपयेमें ही ले लो। अब भला बताओ आंखे मीचने से वहाँ होता क्या? कही स्वप्न में देखी गई वे सब बातें सही तो नहीं बन सकती। तो जैसे स्वप्न में यह पता नहीं पड़ता कि वह सब झूठ है, ऐसे ही मोह की नींदमें जब तक मोह के विचार और विकार चल रहे हैं और आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिचय नहीं है तब तक लग रहा है कि बिल्कुल सच बात तो है, हमारा ही तो मकान है, हमारे ही नामसे तो इस मकानकी रजिस्ट्री हुई है, किसी दूसरेका कैसे हो सकता? यों सब एकदम सही जंच रहा, मगर वस्तुस्वरूपका ज्ञान लगे, स्वतंत्र सत्वका परिचय बने, प्रत्येक द्रव्य अपनी गुण पर्यायोमें है। कोई द्रव्य किसीको नहीं भोगता। जब एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे सम्बंध कुछ नहीं है यह ज्ञात हो तब भूल कबूल होगी, आप साचेगें कि ऐसा श्रेष्ठ मनुष्यभव मिला। यदि यहाँ मोक्षमार्ग की बात न बन पाये तो धिक्कार है और बेकार है यह जीवन। उसमें क्या सार निकलेगा? कुछ इन्द्रियके आराम मिल जायेगे। जिनको कल्पित सुख दुःख होता है और उस समय जैसा कर्मोका बन्ध होता उसके अनुसार संसारमें जन्ममरणकी पंरपरा चलती है। तो अब अपना एक दृढ़ संकल्प बना लीजिए कि मैं इसका परिचय करके ही रहूंगा कि मैं वास्तवमें किस स्वरूपमें हूँ। जो मेरा वास्तविक स्वरूप है उसही को अपनाऊं और उसीको अनुभव करूँ कि मैं यह हूँ।

सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयार मप्पाणं ।

जलणो वि पवणसहिदो डंहति पोरायणं कम्मं ॥ 34 ॥

(72) शीलपवनसे प्रेरित पञ्चाचारूप अग्निसे पूर्वसंचित कर्मन्धनोका दहन— आत्माके उद्धारके लिए जो आचरण बताये गए हैं वे 5 प्रकारके होते हैं—(1) सम्यक्त्वाचार, (2) ज्ञानाचार, (3) दर्शनाचार, (4) तपाचार, (5) वीर्याचार। सम्यग्दर्शनका आचरण होना सम्यक्त्वाचरण है, सबसे निराला है, ज्ञानमात्र है, अमूर्त है, ऐसा अपने स्वरूपमें अपनेको आत्मरूप अनुभव करना कि यह मैं हूँ, यह सम्यग्दर्शन कहलाता है। ज्ञानाचार —आठ अंगसहित ज्ञानका आचरण करना ज्ञानाचार है। दर्शनाचार — ज्ञानसे पहले छद्मस्थोको दर्शन हुआ करता है। इसमें पदार्थका सिर्फ प्रतिभास होता है, इस प्रकारका आचरण करना दर्शनाचरण है और तपश्चरणमें आचरण बने यह तपाचार कहलाता है और वीर्य—शक्तियत् आचरण करना वीर्याचर है। ये 5 प्रकारके आचार आत्माओ के होते हैं। तो जैसे अग्नि जलती है और उसमें हवा लग रही तो उससे ईंधन जल जाता तो ऐसे ही ये आचरण करते हुए अन्तस्तत्त्वका आश्रय बनावे, तो इन आचरणों मे पुरातन कर्म भी सब दुग्ध हो जाते हैं। आत्माका उद्धार आत्मस्वरूपके अनुसार आचरण होनेमें है। तो इन्हीं आचारोंको 5 विभागोंमें बांटा है। सम्यक्त्वाचार तो विपरीत अभिप्रयायरहित अपनेको स्वच्छ अनुभवन कहलाता है। ज्ञानाचार ज्ञान का केवल जाननस्वरूप है सो मात्र जाननस्वरूपके लिए ही उपयोग रहना यह ज्ञानाचार कहलाता है। दर्शनरूप है, ऐसे जो आत्माका परिणाम है वह दर्शनाचार कहलता है। तपश्चरण तो वास्तवमें इच्छा निरोध है। अपने आपमें अपने चैतन्यस्वरूपमको तपाना, वही दृष्टिमें रहना, ऐसा जो एक भीतर तपन है वह है निश्चयनसे तपाचार और इस ही की पुष्टिके लिए जो वातावरण बनाया जाता है अनेक प्रकार के बाह्य तपो का आचरण या अन्तरंग तपका आचरण वह सब तपस्या है, ऐसे ही वीर्याचारमें आत्माके समस्त बल प्रयोगसे आत्मस्वरूपमें ही उपयोगको रमाना ऐसा जो पौरुष है वह वीर्याचार है। सो इन 5 आचारोंके द्वारा पूर्वबद्ध कर्मोंके जला दिया जाता है। जैसे कि अग्नि से ईंधन जला दिया जाता है और जैसे अग्निको हवा प्रेरित करती है, बढ़ती है, उकसाती है ताकि अग्नि पूरा काम कर सके, तो ऐसे ही आत्मामें शीलस्वभावकी दृष्टि, आत्मस्वभाव, उन पञ्चाचारोंको उकसाता है, बढ़ाता है जिसके द्वारा पूर्वबद्ध कर्म नष्ट किए जाते हैं, सो यहाँ यह समझना कि शीलके बिना निर्वाण नहीं हो सकता। शीलका अर्थ है आत्माके स्वभावरूप अपने आपको मनन करना।

णिद्दुद्धअट्टकम्मा विसयविरत्ता जिदिंदिया धीरा।

तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्ता।। 35।।

(73) विषयविरक्त एवं इन्द्रियविजयीका सिद्धपर्याय पानेका अधिकार — जो पुरुष विषयोसे विरक्त है, जिन्होंने इन्द्रियपर विजय प्राप्त किया, जो प्रत्येक परिस्थितिमें धरी रहते हैं, तपश्चरण विनय और शीलसे जो युक्त हैं, जिन्होंने अष्ट कर्मोंको नष्ट कर दिया है, वे पुरुष सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होकर सिद्धभगवान कहलाते हैं। जीवपर बड़ा कलंक है विषयरमण। अत्यन्त भिन्न पदार्थ है, विषयभूत पदार्थ भी अत्यंत भिन्न है, इन विषयोंमें इस जीवको प्रीति होती है, रमण होता है, वही इसके उपयोगपर चित्रित रहता है तो यह तो इस भगवान परमात्माके लिए बड़ा कलंक है। विषयोसे विरक्ति पाये बिना कोई धर्ममार्गमें जरा भी नहीं चल सकता, क्योंकि विषयोसे प्रेम रखने वाला पुरुष ऐसा जकड़ा हुआ है कि वह अपनेमें निर्भरता या प्रसन्नता पा नहीं सकता। अभी व्यवहारमें ही कोई कामवासना वाले पुरुषका जो कि किसी समय जकड़ा हुआ है कि वह अपनेमें निर्भरता या प्रसन्नता पा नहीं सकता। अभी व्यवहारमें ही कोई कामवासना वाले पुरुषका जो कि किसी समय सुख मान रहा है या अन्य इन्द्रियविषयोके भोगमें खानेमें, सूँघनेमें, देखनेमें, सुननेमें सुख मान रहा है

और शुद्ध आचार-विचारसे रहता है उसे भी आनन्दके कारण चेहरेपर मुस्कान रहती है। एक उसका फोटो मिलायें तो दोनो ही फोटोमें आप बड़ा ही अंतर पायेंगे, वह प्रसन्नता सुंदरतामें, विषय सुख वालेमें नहीं पायी जा सकती। तो विषयोसे विरक्त होना यह धर्मार्थी पुरुषका सर्वप्रथम कर्तव्य है, सिद्धिकी प्राप्त करनेका अधिकारी जितेन्द्रिय है। जिसने इन्द्रियको जीता है, विषयविरक्तका और जितेन्द्रियका परस्पर सम्बंध है, जिसने इन्द्रियपर विजय पायी, वही विषयोसे विरक्त हुआ है, वही इन्द्रियपर विजय पायेगा। ये दोनो परस्पर एक-दूसरेके साध्य-साधक है। तो जो पुरुष जितेन्द्रिय हुए है वे ही सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेके अधिकारी है।

(74) धीर व तपविनयशीलसहित जीवोको अष्टकर्मरहित होकर सिद्धपर्यायका लाभ- धीर वीर पुरुष सिद्ध अवस्था को पाने के अधिकारी है। वीरता होने का कारण विषय विरक्ति और जितेन्द्रिय पना है तो विषयविरक्ति और जितेन्द्रियता तो कारण है और धीर बनना यह उसका फल है धीर शब्द का अर्थ है जो बुद्धि को देवे सो धीर। धी मायले बुद्धि और का अर्थ है देने वाला। रा धातु देने अर्थमें आती है, और धी मायने बुद्धि, तो धीं राति इति धी; जो बुद्धिको दे उसे धीर कहते है, ऐसी अवस्था, ऐसी स्वच्छताकी दशा कि जिसमें बुद्धि काम करे, बुद्धि विचार न बिगड़े, उस अवस्थासे युक्त पुरुषको धीर कहते है। अब बुद्धि न बिगड़े, ज्ञान सही काम करता रहे तो वह पुरुष बन सकेगा ऐसा कि जो विषयोसे विरक्त हो और इन्द्रियका विजयी हो। तो जो धीर वीर पुरुष है वे सिद्ध अवस्था पानेके अधिकारी होते है। जिन पुरुषोने तपश्चरणका आदर किया है यथाबल अन्तरंग बहिरंग तप करते है, अपने आपको इच्छारहित अनुभव करते है, वह तपसहित कहलाते है। जिनको अपने ज्ञानस्वभावकी प्रीति है और ज्ञानस्वभावकी और उपयोग जिनका झुकता है वे पुरुष वास्तवमें विनयशील है और जिन्होने ऐसे ज्ञानस्वभावोपयोगके बलसे आत्मविजय पाया है वे ही व्यवहार से व निश्चयसे विनयशील बन पाते है, अन्यथा विनय बनावट में भी हुआ करती है, पर बिना बनावटकी विनय, वास्तविक विनय उसी पुरुषके सम्भव है जिसने अपने ज्ञानबलमें विनय किया है। जो शीलसहित पुरुष है, जिनका ध्यान अपने आत्माके सहज ज्ञानस्वभावकी और रहता है वे यथार्थ तपविनयके पात्र है, सो जो तपश्चरण सहित है, विनयसहित है वह पुरुष सिद्धअवस्थाको प्राप्त होकर सिद्ध कहलाता है। सिद्धदशा अष्टकर्मो नष्ट हुए बिना नहीं प्राप्त होती। उनमें 4 घातिया कर्म तो अरहंत अवस्थामें नहीं है। अरहंत होनेके लिए पहले ही नष्ट कर दिया गया था, शेष चार अघातिया कर्म जो आत्माके गुणको तो नहीं घात रहे, पर आत्मगुण घातनेके सहायक नोकर्माश्रयभूत जैसा उनका फल रहता था शरीरादिक, वे शरीरादिक अब भी है। अघातिया कर्मोका उदय चल रहा है, उनका उस 14वे गुणस्थानके अंतमें विनाश हो जाता है। यों अष्टकर्मोका नाश होने पर शरीररहित होकर वे सिद्ध भगवान कहलाते है। तो ऐसा सिद्ध होना आत्मशीलका प्रताप है। आत्माके शील बिना सिद्ध पद की प्राप्ति असम्भव है।

लावण्णशीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स।

सो सीलो स महप्पा भमित्थ गुणवित्थरं भविए।। 36।।

(75) शीलयुक्त गुणी महात्माओ की प्रष्यता- ऐसे मुनि महाराजका गुण समस्त लोकमें विस्तारको प्राप्त होता है जो मुनि महाराज सर्व लोककी प्रशंसाके योग्य है। दुनिया में यश उसीका ही तो गाया जाता जो कि प्रशंसाके योग्य होता है, सो प्रशंसाके योग्यमुनि कौन है? जिसका शील उत्तम है, स्वभावदृष्टि निज आत्ममणमें चल रही है ऐसा उपयोग वाला आत्मा शीलको प्रकट करता हुआ प्रशंसाके योग्य होता है। तो कोई मुनि चाहे सर्वांग

सुंदर हो, वचन-कायकी चेष्टा भली हो तो भी प्रशंसा उसकी होती है जिसका शील उत्तम हो। जैसे वृक्षकी शाखा पत्ते फूल फल सुंदर हो और छायासे भी सहित हो तथा सर्व लोगोका बराबर उपकार करने वाला है याने उस वृक्षसे सज्जन लोग भी फल खाये, दुर्जन लोग भी फल खाये, सज्जन लोग भी उसकी छायामें बैठकर विश्राम लें और दुर्जन लोग भी, वृक्ष सबका समान उपकार करता है तो वह वृक्ष प्रशंसनीय होता है। इसी तरह जिसमें अनेक गुण हों। जाति, रूप, कुल, अवस्था, ज्ञान आदि सभी गुण उत्तम हो और रागद्वेषरहित सर्वका समान उपकारक हो और शील गुणसे युक्त हो तो वह महात्मा सर्व लोगो द्वारा प्रशंसनाके योग्य है। सो इसमें भी उसके शीलकी महिमा समझिये। हम आपका उदार अपने आपके स्वभावकी दृष्टि किए बिना, आत्मस्वभावमें रमें बिना कभी सम्भव नहीं है। यह बहुत बड़ी भारी विपत्ति छाया है जो इस जीवकी दृष्टि जड़ पदार्थों में रमती है। यद्यपि थोड़े ही दिनोंमें इस भवका भी फैसला होना है, मरण होगा, सब यही रह जायेगा। कुछ साथ न देगा, लेकिन जब तक जीवित है, यह मोही प्राणी अपनी उपयोग भूमिपर इन जड़ पदार्थोंकी छाया लादकर भारसहित होकर समय बुरी तरह गुजर रहा है। सो कुछ अपनेको चेतना चाहिए और कुछ मुख मोड़ना चाहिए एक दृढ़ कदमके साथ। एक ही निर्णय और विश्वासके साथ कि हमको तो संसारसे हटकर केवल सिद्ध अवस्था पानी है और उसीके लिए ही हमारा सब कुछ त्याग रहेगा, समर्पण रहेगा, उसीके लिए ही ध्यान रहेगा, ऐसी अतीव दृढ़ताके साथ जिसका स्वभावकी और आकर्षण होगा वह पुरुष मुक्ति अवस्थाको प्राप्त कर सकता है।

गाणं ज्ञाणं जोगो दसणसुद्धीय वीरियायत्तं ।

सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहि ।। 37 ।।

(76) ज्ञान ध्यान योग व दर्शनशुद्धिकी आत्मकीय तन्त्रता होनेसे शीलमहिमाकी प्रकटता- ज्ञान, ध्यान, योग दर्शन शुद्धि ये वीर्यके आधीन है। जैसा आत्मबल है वैसा ही इस ज्ञान, ध्यान आदिकको करनेमें समर्थता है। आत्मबल शीलस्वभावके आश्रय से ही बनता है। इन्द्रियपोषण, शरीरपोषण आदिक प्रयत्नसे तो आत्माका बल हीन होता है, सो आत्मबल बढ़े उसमें भी महिमा शीलकी है, आत्मशीलके आलम्बनके प्रतापसे वह सामर्थ्य बढ़ती है जिससे यह जीव ज्ञानमें प्रकृष्ट बनता है। जैसे लोग सोचा करते हैं निरन्तर कि ऐसा काम करो जिसमें वैभव का संचय हो, धन बढ़े, कोई न कोई व्यापारकी, व्यवसायकी बात सोच करते हैं, पर यथार्थता सोचा जाये तो आत्माका व्यापार, व्यवसाय, कमाई, केवल यही है कि वह आत्माके शीलका आलम्बन करे, स्वभावको ही दृष्टिमें ले। ध्यानकी सिद्धि भी आत्मवीर्यके आधीन है। ध्यान कहते हैं एक विषयपर ज्ञानका ज्यादा देर टिकाये रहना, सो ज्ञानमें जैसे, आत्मबलका आश्रय है तो ध्यानमें भी आत्मबल का ही आश्रय है। जो पुरुष रागद्वेषसे रहित होगा वह ध्यानमें सफल होगा। ध्यानसे चलित करने वाला है रागद्वेषभाव, और रागद्वेष भाव उस ही के मिटता है जिसने रागद्वेषरहित आत्माके चैतन्यस्वभावमें रुचि की है कि मैं यह हूं। बाहरमें जिसका जो कुछ भी होता हो उससे मेरे आत्मामें परिणमन नहीं होता। मैं क्यों परपदार्थों के विषयमें विचार बढ़ाकर अपने आपको बलहीन करूं? रागद्वेष दूर करके आत्माका वीर्य बढ़ाये और फिर वीर्यके पूरे प्रयत्न से ध्यानकी सिद्धि जरूर कुछ देर तक बनाये, तो ऐसे ध्यानकी सिद्धि आत्मवीर्यके आधीन है। योगका अर्थ समाधि लेना है, समता परिणाममें रहना है, यह साधन भी आत्मवीर्य के आधीन है। जो पुरुष जितना अपनेको ज्ञानमात्र ही अनुभव करके धीर रहता है उसके ही यह सब योब बनता है। तो योगके बननेमें भी एक शीलका ही आलम्बन

रहा। यहाँ भी शीलकी ही महिमा प्रकट हो रही है। सम्यग्दर्शन का शुद्ध परिणामन 8 अंगसहित 25 दोषरहित सम्यक्त्व परिणामका होना यह आत्मवीर्यपर निर्भर है। अपने आपके ज्ञानस्वभावकी लीनतामें निश्चयतः आगे सम्यक्त्वके आधीन है। सो यह सब अपनी शक्तिको न छिपाकर बड़ी लगनपूर्वक ज्ञान ध्यान, योग और दर्शनशुद्धिको करना, इससे रत्नत्रय की प्राप्ति होती है।

(77) ज्ञानामात्र अन्तस्तस्वकी भावनासे आत्मशीलका विकास— आत्मा में आत्माको ज्ञानमात्र स्वच्छ स्वरूपमें निहारनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है और इसीसे ही ध्यानादिक भी यथाबल होते ही रहते हैं। तो समस्त शक्तियोंके बढ़ाने में आत्माका शील मूल कारण है। सो इस प्रतापको सुनकर शीलकी महिमाका अंदाज कीजिए। जो भी पुरुष भगवान बने है वे आत्माके इस शीलका आलम्बन लेकर बने हैं, सो रत्नत्रय आत्माका स्वरूप है, अभेददृष्टिसे आत्माका शील आत्माका स्वरूप है, अपने द्वारा अपनेमें सुगमतया प्राप्त होता है, यह दृष्टि जिसने पायी वह जीव अलौकिक है। आत्मशीलपर ध्यान रखने वाले, ज्ञान रखने वाले पुरुष निरन्तर निर्मल प्रसन्न रहा करते हैं। तो यह सब आत्माके स्वभावका आलम्बन है। इसके लिए अपने आपमें ऐसा मनन कीजिए कि मैं अमूर्त हूँ आकाशवत निर्लेप हूँ, ज्ञाताद्रष्टा स्वरूपमात्र हूँ। मेरे स्वरूपमें विकार नहीं है। वह तो केवल अपने स्वरूपास्तित्वमय है, सो विशुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र मैं आत्मा परिपूर्ण हूँ। ऐसा मनन करना, इस ही और ध्यान रखना यह है आत्माके शीलको प्रकट करनेका काम। तो हम सबको ऐसी भावनाओंमें रहना चाहिए अर्थात् शीस्वभाव की निरन्तर उपासना करनी चाहिए, इस सुकुमार चिकित्सा द्वारा संसारके विकट जन्ममरण संकट समाप्त हो जायेगे। सो इस शीलपाहुडके प्रकरणमें यह आचार्योका उपदेश है कि हे भव्य जीवो। तुम अपने इस परमार्थशीलका आश्रय करो, इस ही में उपयोग डुबोकर, मग्न कर अपने आप को कृतार्थ अनुभव करो।

जिणवयणगहिदसार विशयविरत्ता तपोधणा धीरा।

सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥ 38 ॥

(78) जिनवचनगृहीतसार आत्माओंका सिद्धालयलाभ लेनेके लिए अधिकार— सिद्धात्माके आनन्दको कैसे जीव प्राप्त करते हैं, इसका वर्णन इस गाथा में किया गया है। जिन्होंने जिनेन्द्रप्रणीतवचनोसे सार ग्रहण किया है, जो विषयोसे विरक्त है, तपस्वी है, धीर है ऐसे पुरुष शीलरूपी जलसे स्नान किए हुए मोक्षके सुखको प्राप्त करते हैं। इससे सर्वप्रथम कहा गया है कि जिन वचनोसे जिन्होंने वस्तुका यथार्थस्वरूप जाना है वे पुरुष सिद्धालयको प्राप्त होते हैं। तो जीवोके कल्याणका प्रारम्भ जिन वचनोंसे होता है, कुछ सुने तब उसपर मनन चले और आत्मविकासकी उन्नति हो तो सर्वमूल जिनागम रहा, जिससे सिद्ध होता कि सर्व कल्याणका मूल प्रारम्भ स्वाध्याय से चलता है। तो जिन वचनोसे जो वस्तुस्वरूप जाना उसका सार ग्रहण किया गया है। सार क्या है? अपने शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति। धर्ममार्गमें जो कुछ भी ज्ञान है, चारित्र है, उस सबका उद्देश्य है शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होना। आत्माको मोक्ष चाहिए तो मोक्ष अवस्थामें जो कुछ यह जीव रहता है, बनता है उसका तो ज्ञान चाहिए। किसी पुरुषको किसी गांवमें जाना है, गांव को यदि देखा हुआ है तो पूरा चित्रण उसके उपयोग में है तब तो जा रहा है। नहीं देखा है तो सुन-सुनकर उसका कुछ ज्ञान है चित्त में तब जा रहा है। मोक्ष जाना है तो कुछ तो निर्णय होना चाहिए कि मोक्ष क्या चीज है, मोक्षमें आत्मा किस तरह रहता है, वहाँ क्या बर्तता है? मोक्षमें आत्मा अकेला जितना इसका सहज स्वरूप है, जो कुछ स्वरूप सत्व है मात्र वही रहता है,

उसके साथ अन्यका संयोग नहीं है, ऐसी जो अत्यन्त विविक्त अवस्था है उसका नाम मोक्ष है, तो मोक्षमें रहा यह आत्मा ज्ञानमात्र, अकेला, अपने स्वरूपास्तित्व वाला है, तो वहाँ अनंत आनन्द है। इसका कारण यह है कि आत्माका स्वरूप आनन्द है, अनुपम आनन्द है, आनन्दसे रचा हुआ है। ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ज्ञानके अविनाभावी आनन्दसे, आनन्द के अविनाभावी ज्ञानसे समृद्ध है, वही सिद्ध अवस्थामें व्यक्त हुआ है। तो जो सिद्ध अवस्थामें आत्मा प्रकट होता है वह उस स्वरूप वाला सब कुछ अभी भी यहाँ है, अनादि से ऐसा ही है, किन्तु कर्म और विकारके कारण यह स्वरूप ढका हुआ है, पर मोक्ष अवस्था में कोई नई बात बनती हो या कोई नई चीज इसमें आती हो सो बात नहीं है। जो है वही पूर्ण सिद्ध हो गया, इसीके मायने है मोक्ष। तो मोक्षमें क्या है? केवल ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा, जिसके साथ न विकार है न कर्म है, न शरीर है, तो ऐसा ही स्वरूप इस समय यहाँ दिखता अपनेमें कि मैं स्वरूपास्तित्वसे जो हूँ सो वही उतना ही मात्र हूँ। उस स्वरूपमें विकार नहीं, कर्म नहीं, शरीर और कर्म ये तो अत्यन्त जुदे सत् पदार्थ हैं, उनका तो मेरेमें सद्भाव कैसे हो सकता है? अब रहे विकार, सो ये विकार मेरे स्वरूपतः नहीं उत्पन्न हुए, किन्तु आत्मामें ऐसी योग्यता है कि कर्मविपाकके बंधे हुए कर्मोंका अनुभाग जैसा उदित होता है और जो कुछ गड़बड़ी विकार उन कर्मप्रकृतियोंमें होती है वहाँ चित्रित हो जाती है। फिर यह जीव चित्रित होनेके कारण एक ज्ञानमें धक्का पाता है जिसके कारण स्वरूपमें से विचलित होकर यह बाह्य पदार्थोंमें लग जाता है। तो ये विकार आत्माके स्वरूप नहीं है, किन्तु कर्मोंके विकारको अपनानेकी बात है। तो स्वरूप इस विकारसे भी जुदा है, तो ऐसे अविकार, शरीररहित, कर्मरहित, ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको निरखना यह ही सारका ग्रहण करना है। अपने सार कारणसमयसारमें उपयोग रमाये, सर्वसिद्धि होगी।

(79) कारणसमयसारको ग्रहणकर विषयविरक्त हुए आत्माओका मोक्षमार्ग पर अधिकार— जिन जीवोंने जिन वचनों के प्रसाद से शुद्ध आत्मतत्त्वके सारको ग्रहण किया है वे ही पुरुष विरक्त होते हैं। विषयोंमें लगा रहे कोई, तो मोक्षमार्गमें कैसे गमन कर सकता है? वह तो विषयोंमें ही लम्पट हो गया। तो आत्मस्वरूपमें पहुंच पानेके लिए विषयोंकी गिरपतारी से निकलना अत्यावश्यक है, सो विषयोसे विरक्ति ज्ञानपूर्वक होती है। वास्तविक ज्ञान वह है जिस ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व ज्ञात होता हो और विषयोसे विरक्ती रहती हो। यदि ये दो बातें नहीं हैं कि ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व का परिचय होना, और विषयोसे विरक्ति होना, तो वह ज्ञान ज्ञान नहीं कहलाता। तो उस सहज ज्ञानस्वरूपको ग्रहण करनेके कारण जीवके विषयविरक्ति होती है। तो जो विषयोसे विरक्त है वे ही पुरुष मोक्षमार्गमें बढ़ सकते हैं। ज्ञानका और विषयविरक्ति का परस्पर प्रगति कराने वाला सम्बन्ध है। ज्यों—ज्यो विषयोसे विरक्ति बढ़ती है त्यों—त्यो यह आत्मा अपने सारभूत ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वमें मग्न होता है, जगता है, प्रकाश पता है और जैसे—जैसे ज्ञानमें सहज ज्ञानस्वभाव प्रकाशित होता है वैसे ही वैसे विषयविरक्ति बढ़ती जाती है। तो जो पुरुष ज्ञानस्वरूपका भान कर चुके हैं वे विषयविरक्त होते हैं और विषयविरक्त पुरुष ही मोक्षसुखके अधिकारी होते हैं।

(80) जिनवचनो से आत्मसार विदित कर विषयविरक्त आत्माओका तपस्वी व धीर होकर मोक्षमार्गमें अधिकार— जिन वचनों से अंतस्त्व का सार ग्रहण कर विषयोसे जो विरक्त हुए हैं वे ही पुरुष तपश्चरण को स्वीकार करते हैं और जो शरीर में आसक्त हैं, मोही हैं वे पुरुष तपश्चरण क्यों करें? वे तो शरीर में आत्मबुद्धिके कारण जिस प्रकार वे आराम समझते हो उस प्रकारकी कषायमें रहेंगे। तो तपश्चरणका कारण है विषयोसे विरक्ति।

तो जो पुरुष विषयोसे विरक्त होते हैं व तपश्चरणको स्वीकार करते हैं। तपश्चरण में इच्छाओका निरोध है, आत्माके ज्ञानस्वरूपके आलम्बनका बल है और इस बल प्रयोगसे वह अपनेमें चैतन्यस्वरूप का प्रताप पाता है। तो ऐसे तपस्वी जन मोक्षसुखके अधिकारी होते हैं। जो पुरुष जिनागमसे अंतसतत्वके सारको प्राप्त कर चुके हैं और इस ही कारण विषयो से विरक्त हुए हैं और इस कारण तपश्चरण में लवलीन हो रहे हैं वे पुरुष धीर होते हैं। जिनका ज्ञान अविचलित निष्कम्प प्रसन्नताको लिए हुए हैं और इस कारण तपश्चरण में लवलीन हो रहे हैं वे पुरुष धीर होते हैं। धीर पुरुष क्षमाशील होते हैं, वे किसी के द्वारा किए गए उपद्रव पर कुछ भी चित्तमें क्रोधभाव नहीं लाते, क्योंकि उन्हें सर्व मायाजाल दिख रहा है। उपसर्ग भी माया है, उपसर्ग करने वाला भी मायारूप है, और कोई यदि उपसर्गका निवारण करे तो वह भी एक मायारूप है। ऐसा बाह्य पदार्थका सम्यक् बोध रहने को कारण वह पुरुष धीर रहता है, ऐसे धीर पुरुष मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं।

(81) गृहीतात्मसार विषयविरक्त तपोधन धीर पुरुषोको शीलसलिलसे स्नात होकर ही सिद्धावस्थाकी प्राप्ति— जिन पुरुषों में इतनी योग्यता आ चुकी है कि अन्तस्तत्वका सार ग्रहण कर चुके हैं, विषयोसे विरक्त हुए हैं, तपस्वी हैं, धीर हैं वे पुरुष शीलरूपी जलसे स्नान कर चुके हुए मोक्षके सुखको प्राप्त करते हैं। शीलजल क्या है? आत्माका वह स्वच्छ बढ़ा सहज ज्ञानप्रकाश। उस ज्ञानप्रकाशमें जिसने अपने उपयोगको नहलवा दिया है, निर्मल कर दिया है ऐसे स्नातक पवित्र आत्मा मोक्षसुखको प्राप्त करते हैं। 5 प्रकार के निर्ग्रन्थोमें अंतिम निर्ग्रन्थका नाम स्नातक शब्द दिया है। स्नातक का अर्थ है— अरहंत भगवान। जो केवल ज्ञानोपयोग से निरंतर रहते हैं निर्विकार ज्ञानमात्र, जिनका प्रकाश लोकालोकव्यापक है, वे ज्ञानसलिलसे स्नान किए हुए कहलाते हैं, ऐसे पवित्र प्रभु सिद्धालयसुखको प्राप्त करते हैं।

सर्वगुणखीणकम्मा सुहदुःखविविज्जिदा मणविसुद्धा।

पफ्फोडियकम्मरया हंवति आराहणा पयडा।। 39।।

(82) क्षीणकर्मा सुखदुःखविवर्जित पवित्र आत्माओ का सफल आराधनातन्त्र— मोक्षमार्ग के कर्तव्यमें मरण समयमें सल्लेखना करनेका विधान है। सल्लेखना का अर्थ है कषायभाव को कृश कर देना। कषायको कृश करनेका जो पुरुष पुरुषार्थ करता है उसके काय कृश होता ही है। जहाँ क्रोध, मान, माया लोभको क्षीण कर दिया गया और इसी कारण आहार आदिके प्रति रुचि न रही, आहारका परित्याग भी किया गया वहाँ काय कृश होता ही है, किंतु काय कृश होने की स्थिति में भी भव्य पुरुष प्रसन्न रहा करते हैं। तो ऐसे मूल गुण और उत्तरगुणके द्वारा जिन्होंने कर्मोंको क्षीण किया है वे महात्मा सल्लेखनाको भली प्रकार निभाते हैं। सल्लेखनामें चार प्रतापसे कर्म क्षीण होते हैं। तो पहले सम्यग्दर्शनसहित मूल गुण और उत्तरगुण होनेसे कर्मकी निर्जरा होती है। जिसमें कर्मोंकी स्थिति और कर्मों का अनुभाग क्षीण हो जाता है। कर्मकी स्थिति और अनुभागके क्षीण होनेसे यह जीव सुख दुःख रहित हो जाता है। सुख दुःखमनकी कल्पनापर आधारित रहते हैं। जब इस जीवको निज सहज ज्ञानस्वरूप की दृष्टि नहीं रहती है, सहज ज्ञानस्वभावका जिसको परिचय नहीं हुआ है वह पुरुष अपने उपयोगको कहाँ रमाये? कहीं न कहीं रमानेका स्वभाव है इस जीवका। तो निज स्वरूपका तो परिचय नहीं और विषय प्रसंगका परिचय अनादिसे चल रहा है तो वह जीव उन विषयसाधनो चित रमाता है, किन्तु जिसने सम्यक्त्व पाया और उस सम्यक्त्व ज्ञानके प्रतापसे कर्मोंको क्षीण किया, उनके निरंतर आत्मस्वभावमें दृष्टि रहनेसे प्रकार की आराधना बनती है। जहाँ रागद्वेष नहीं है, सुखका लगाव जहा नहीं है वहाँ मन

पवित्र होता है। जिसका मन पवित्र है, यथार्थस्वरूपको समझनेके कारण सर्व बाह्य पदार्थों विरक्त है वह पुरुष विशुद्धिमें प्रगति करता रहता है। सो ये विशुद्ध मन वाले जीव कर्मरजको तोड़कर, हटाकर वास्कविक ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपकी आराधना को प्राप्त होते हैं।

(83) मोक्षमार्गमें प्रगतिका साधारण विधान— भव्यजीवों की कैसे प्रगति होती है? सुनिये, इस जीवने सम्यक्त्व पहले पाया, उससे हुई विषयविरक्ति, फिर वह निष्परिग्रह बना, सुख दुःख से रहित बना, आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका ध्यान बढ़ा। जब श्रेणी चढ़कर इसका उपयोग विशुद्ध होता है तो श्रेणीमें कषायका उदय अव्यक्त है। सो कषाय अव्यक्त होने से सुख दुःखकी वेदना वहाँ भी नहीं चलती, पीछे मन विशुद्ध होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा यह ज्ञेयसे ज्ञेयाकार परिवर्तन करता रहता है। रागद्वेष न होकर भी चूंकि अभी वीतराग नहीं हुआ, अव्यक्त राग है तो क्षायोपशमिक ज्ञानके कारण यह उपयोग किसी एक ज्ञेय पदार्थपर टिककर नहीं रहता, सो यह ज्ञेयान्तर जाननरूप विकल्पमें रहा, लेकिन इस क्षायोपशमिक ज्ञानकी विशेषताको उस ज्ञेयान्तर परिणमनको भी जब मेट देते हैं, तब एकत्ववितर्क अवीचार नामका शुक्लध्यान 12 वे गुणस्थानमें होता है। फिश्च अन्तमें मनका विकल्प सब खत्म हो जाता। अब संज्ञी भी न कहलायेगें, 12 वे गुणस्थानके अन्तमें और 13वे गुणस्थानके प्रारम्भमें वहाँ केवलज्ञान होता है। जब तक यह मन कार्य करता है तब तक केवलज्ञानी नहीं बनता, मनका कार्य जहाँ समाप्त होता, मन भी शान्त हो जाता वहाँ वीतरागके केवलज्ञान प्रकट होता है, केवलज्ञान होते ही केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति सब एक साथ हो जाते हैं। तो वहाँ आराधना पूर्ण हुई सो ऐसे जो परम शरीरी हैं वे आराधना प्रकट करके मोक्ष प्राप्त करते हैं और जिन गृहस्थजनोकी आराधना एक देश हो पाती है वे उस आराधना के प्रताप से स्वर्ग में जन्म लेते हैं, सागरोपर्यन्त सुख भोगते हैं और वहाँ से चलकर मनुष्यभव में आराधना संपूर्ण कर लेते हैं, जो जो भव्यात्मा सिद्धालयको प्राप्त होता है वह सब शीलका प्रताप है।

अरहंते सुहभत्ती सम्मंत दंसणेण सुविसुद्धं ।

सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥ 40 ॥

(84) परमगुरुभक्ति सम्यक्त्वविशुद्धि विषयविरक्ति सहित शीलपासनासे ज्ञानकी मंगलरूपताका कथन करके अन्तिम मंगलरूप गाथावतार— अरहंत भगवान में शुभभक्ति होना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व यद्यपि विपरीत अभिप्रायरहित आत्मा का परिणाम कहलाता है, पर यह सब जिनागमसे स्वाध्याय कर कर सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है, सो इ आगमके प्रतापसे यह बढ़ सका और वह आगम जिनके मुखसे प्रकट हुआ उन अरहंत जिनेन्द्रमें भक्ति न हो तो उसका सम्यक्त्व कैसा? तो जिनका सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है और चरित्र धारण कर रहे हैं उनको अरहंत भगवानमें भक्ति होती है औरवे पुरुष सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध हैं। जिनका ज्ञान स्म्यग्दर्शन से शुद्ध भक्तिसे ओतप्रोत है उनको विषयोसे विराग होता है और विषयो से विरक्त होना अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहना यही शील कहलाता है। सो अरहंत भगवान की भक्तिरूप तो सम्यक्त्व है और विषयोसे विरक्त होना शील है और यही सब मिलकर ज्ञान ज्ञान है। यदि ज्ञानमें स्वच्छता, विषयविरक्ति नहीं तो वह कैसे ज्ञान है। सो ये ज्ञान भी अपने सम्यग्ज्ञान नामक प्रतापसे प्राप्त होते हैं। आत्मा विषयो विरक्त हो और सहज ज्ञानस्वभाव के प्रति झुका हो तो उसके ज्ञानको सही ज्ञान कहते हैं। तो सम्यक्त्व और शीलके सम्बन्धसे ज्ञानकी बढ़ाई है। तो यह सब शीलकी महिमा ही तो बढ़ा रहा है। शील नाम स्वभावका है। आत्माका, स्वभाव शुद्ध ज्ञानदर्शन है। सो कर्म आवरणके

हटनेका निमित्त पाकर निर्विकार होता हुआ उस शीलस्वभावको विकसित करता है, ऐसे इस शील की प्रशंसा करना यही इस ग्रन्थ में अन्तिम मंगल है। यह शीलपाहुड नामक ग्रन्थ इस गाथा के साथ समाप्त हो रहा है, इस अन्तिम गाथासे शीलकी महिमा बतायी है कि शील बिना ज्ञान ज्ञान नहीं है। शीलजलसे पवित्र हुआ ज्ञानही पारमार्थिक ज्ञान कहलाता है, ऐसे ज्ञानस्वभावा ज्ञानरूप पवित्र ज्ञान शील नित्य विकसित हो जिसके प्रताप से आत्मा सदाके लिए संसारके संकटोस छूटते हे और अनन्त आनन्द प्राप्त करते है।

॥ शीलपाहुड प्रवचन समाप्त ॥

अपनी बातचीत

अयि आत्मन्। तू क्या है ? विचार! ज्ञानमय पदार्थ है!! तेरा इन दृश्योंके साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ ? नहीं, नहीं कुछ भी सम्बन्ध नहीं। क्यों नहीं ? यो कि "कोई किसी का कुछ भी परिणमन कर नहीं सकता।"

मैं ज्ञानमय आत्मा हूँ, हूँ, स्वयं हूँ, इसीलिये अनादिसे हूँ, मैं किसी दिन हुआ होऊँ, पहिले न था यह बात नहीं। न था तो फिर हो भी नहीं सकता।

फिश्र ध्यान दे—इस नर जन्मसे पहिले तू था ही! क्या था?

—अनन्तकाल तो निगोदिया था। वहाँ क्या बीती? एक सेकिण्डमें 23 बार पैदा और मरा। जीभ, नाक, आँख, कान, मन तो था ही नहीं और था शरीर। ज्ञानकी ओरसे देखो तो जड़सा रहा; महासंकलेश! न कुछसे बुरी दशा। सुयोग हुआ तब उस दुर्दशासे निकला।

—पृथ्वी हुआ तो खोदा गया, कूटा गया, तोड़ा गया, सुरंगसे फोड़ा गया।

—जल भी तो तू हुआ, अब औटाया गया, विलोरा गया, गर्म आगपर डाला गया।

—अग्नि हुआ, तब पानी से, राखसे, धूलसे बुझाया गया, खुदेरा गया।

—वायु हुआ, तब पंखोसे, बिजलियोसे ताड़ा गया, रबर आदिमें रोका गया।

—पेड़, फल, पत्र जब हुआ, तब काटा, छेदा, भूना, सुखाया गया।

—कीड़े भी तुम्ही बने और मच्छर, मक्खी, बिच्छू आदि भी। बताओ कौन रक्षा कर सका? रक्षा तो दूर रही, दवाइयाँ डाल—डालकर मारा गया, पत्थरोसे, जूतोसे, खुरोसे दबोचा व मारा गया।

—बैल, घोड़े, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ। कैसे दुःख भोगे? भूखे प्यासे रहे, ठंडो मरे, गर्मियो मरे, ऊपरसे चाबुक लगे, मारे गये।

—शूकर मारे जाते हैं चलते फिरतोको छूरी भोककर। कहीं तो जिन्दा ही आगमें भूने जाते हैं।

यह दूसरो की कथा नहीं, तेरी है। यह दशा क्यों हुई? मोह बढ़ाये; कषाय किये; खाने, पीने, विषयोकी धुन रही; नाना कर्म बाँधे; मिथ्यात्व, अन्याय अभक्ष्यसेवन किये। बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म मिला तब यहाँ भी मोह राग द्वेष विषय कषायकी ही बात रही। तब मनुष्य हुए, न हुए बराबर है।

कभी ऐसा भी हुआ कि तूने देव होकर या राजा, सम्राट, महान धनपति होकर अनेक संपदा पाई, परन्तु वह सभी संपदाये थी तो असार और क्लेशकी कारण। इतनेपर भी उन्हें छोड़कर मरना ही तो पड़ा।

अब तो पाया ही क्या? न कुछ। न कुछमें व्यर्थ लालसा रखकर क्यों अपनी सर्वहानि कर रहे हो?

आत्मन्! तू स्वभावसे ज्ञानमय है, प्रभु है, स्वतंत्र है, सिद्ध परमात्माकी जातिका है। क्या कर रहा? उठ, चल, अपने स्वरूपमें बस।

- तू अकेला है, अकेला ही पुण्य–पाप करता, अकेला ही पुण्य–पाप भोक्ता, अकेला ही शुद्ध स्वरूपकी भावना करता, अकेला ही मुक्त हो जाता।
- देख! चेत! पर पर ही है, परमें निजबुद्धि करना ही दुःख है, स्वयंमें आत्मबुद्धि करना सुख है, हित है, परम अमृत है।
- वह तू ही तो स्वयं है। परकी आशा तज, अपनेमें मग्न होने की धुन रख।
- सोच तो यही सोच–परमात्माका स्वरूप....उसकी भक्ति में रह। लोगोको सोच, तो उनका जैसे हित हो उस तरह सोच।
- बोल तो यही बोल–शुद्धात्माका गुण गान....इसकी स्तुतिमें रह। लोगोसे बोल तो हित, मित, प्रिय वचन बोल।
- कर तो ऐसा कर जिसमें किसी प्राणीका अहित न हो, घात न हो। अपनी चर्या धार्मिक बना।
- तू शुद्ध चैतन्यस्वभावी है; सहज भावका अनुभव कर। जप, जप – शुद्धचिद्रूपोऽहम्।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सूत्रपाहुड प्रवचन

मूल रचियता:

पूज्य पाद श्री कुन्दकुन्दाचार्य

प्रवक्ता:

अध्यात्म योगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

“श्री मत्सहजानन्द” महाराज

सम्पादक:

सुमेर चन्द जैन 15, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

प्रकाशक:

मन्त्री, श्री सहजानन्द भास्त्र माला

185—ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

द्वितीय वृत्ति 1000)

(1996

ॐ

परमात्मा—आरती

(पू० श्री मनोहर जी वर्णी द्वारा रचित)

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥ टेक ॥ ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ 1 ॥ ॐ.....

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ 2 ॥ ॐ.....

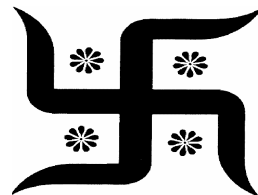
परसम्बधं बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मा का दर्शन, चहुं गति दुखहारी ॥ 3 ॥ ॐ.....

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ 4 ॥ ॐ.....

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ 5 ॥ ॐ.....

नोट— यह आरती निम्नांकित अवसरो पर पढ़ी जाती है—

1. मन्दिर आदि में आरती करने के समय ।
2. पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्यो में ।
3. किसी भी समय भक्ति—उमंग में टेक का व किसी छंद का पाठ ।
4. सभाओ में बोलकर या बुलवाकर मंगलाचरण करना ।
5. यात्रा वंदना में प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।



सूत्रपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री 105 क्षु0 मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।

सुत्तत्थमगाणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥ 1 ॥

(1) आगमकी अर्हद्वाशितता— यह कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित सूत्र पाहुड नामका ग्रन्थ है। इसमें सूत्र अर्थात् आगमके संबंधमें वर्णन किया गया है, क्योंकि तीर्थप्रवृत्तिका आधार आगम होता है। जैसा कि अनेक प्रत्येक मतोंमें उनके माने हुए शास्त्र उनकी विधियों का आधार है। तो ऐसे ही मोक्षमार्गमें लगनेके लिए जो ज्ञान आवश्यक है उस ज्ञानका आधार आगम है। उस आगमका इस पाहुडमें वर्णन चलेगा। सर्वप्रथम लगता है कि जो अरहंत देव कह गए, जिनका अर्थ अरहंतके द्वारा भाषित है। प्रभु एक—एक शब्द बोलकर कुछ वाक्य नहीं बोला करते हैं। उनके तो दिव्यध्वनि खिरती है। पहले जो आगमका ज्ञान था, द्वादशाङ्गके ज्ञातापनेका सबमें व्यवहार होता है। तो जो भी अरहंत हुए हैं और उनकी दिव्यध्वनि खिरती है सबकी दिव्यध्वनिमें द्वादशाङ्गकी रचना बनती है। प्रभु तो केवल दिव्यध्वनि ही करते हैं करते भी क्या है? भव्य जीवोंके भाग्यके उदय से और प्रभुके वचनयोगके निमित्तसे दिव्यध्वनि बनती है। जैसे मेघ कुछ कल्पना नहीं कर पाते, न करते हैं, न कर सकते हैं किन्तु जहाँके जीवों का भाग्य होता है यथोचित वहाँ बरस जाते हैं, वही पहुँच जाते हैं, और इसी प्रकार उनकी गर्जना भी बिना कल्पनाके होती है। तो अरहंत भगवानके सर्वाङ्गसे एक ध्वनि होती है समयपर उस ध्वनिको जो लोग सुनते हैं वे अपनी बुद्धिके माफिक अपनी शंकाका समाधान करते हैं और अर्थ समझते हैं। दिव्यध्वनिसे सभी लोग पूरा समझें ऐसा नहीं होता। जिसकी जितनी योग्यता है वह उतना समझता है, पर गणधरदेव उस दिव्यध्वनिसे पूरा द्वादशाङ्गका अर्थ समझते हैं।

(2) दिव्यध्वनिकी निरक्षरतापर विचार— दिव्यध्वनि के सम्बन्धमें दो बातें आती हैं। एक मतसे तो वह निक्षरी भाषा है, उसमें कोई अक्षर नहीं, किन्तु मेघ गर्जनावत् ॐ ध्वनि रूप है और एक मतसे सर्व अक्षरो रूप ध्वनि है अथवा जो विशिष्ट अनेक संयोगी अक्षर वाले मंत्र है। एक एक स्वर वाले, उस रूपसे ध्वनि बनती है जैसे ॐ ह्रीं आदि। तो उन दोनो सिद्धान्तोंसे एक बात यह स्पष्ट होती है कि वह भाषा निरक्षरी है अथवा सर्वाक्षरी है, पर मोटे रूपसे विचार करें तो जो सर्वाक्षरी हो वह निरक्षरी ही कहलाता है। अगर रागी पुरुषोंकी भाँति अलग—अलग अक्षर बोले जाते हो तब तो उसका व्यवहार बनता है और जहाँ सभी अक्षर एक साथ बोले हो, वहाँ कोई अक्षर न रहा और इसी कारण निरक्षरी शब्दके दो अर्थ किए जा सकते हैं निर मायने रहित अर्थात् अक्षर रहित अथवा निर मायने समस्त। संधि होते समय जो स से र होता है, निर शब्द है और निरक्षर बनता है मायने समस्त अक्षरो सहित, निरक्षर शब्दके दो अर्थ हैं—(1) अक्षर रहित और (2) सर्व अक्षरोसे सहित, ऐसी दिव्यध्वनि अरहंत प्रभुके सर्वाङ्गसे प्रकट होती है। जहाँ सर्वाङ्गसे प्रकट हुई तो क्या मुख खाली रहेगा? अरे मुखसे भी प्रकट हुई और मनुष्योंके तो मुखसे ही निकलती है

भाषा अतएव यह भी लिखा गया है कि भगवानके मुखसे निकली हुई भाषा, वह है दिव्यध्वनि।

(3) द्वादशाङ्गी गणधर ग्रन्थिता— प्रभुके द्वारा जो दिव्यध्वनि हुई उसको गणधरदेवने भली प्रकार ग्रन्थमें गूँथा। तो आज जो आगम है वह आगम मूलमें तो तीर्थकर प्रभुसे निकला हुआ है। उसे गणधरदेवने लिया गूँथा, गणधरदेवसे आचार्योंने लिया और मौखिक बात चल रही, उनसे फिर अन्य आचार्योंने लिया। जब लिपिबद्ध करना आवश्यक हुआ तो आचार्यों ने लिपि की और उस परम्परासे आज भी आगम चला आ रहा है। तो इस आगमके मूल कर्ता तीर्थकर परमदेव, अरहंतदेव है, उत्तर कर्ता गणधरदेव है। उसके बाद उत्तरोत्तर कर्ता अनेक आचार्य हुए हैं।

(4) अनुभव व आगमकी समानताका उदाहरण पूर्वक समर्थन — आज भी अगर परखते हैं 7 तत्वोंके विषयमें, तो जो अनुभवमें उतरता है, वही आगममें मिलता है, जो आगममें लिखा है वही अनुभवमें आ रहा है, बिल्कुल सही मिल जाता है। जैसे— जीव क्या है? एक चैतन्यमूर्ति, चैतन्यमात्र, जिसका स्वरूप प्रतिभासन है, और कुछ स्वरूप नहीं है, कल्पना रागद्वेष ये स्वरूप नहीं हैं, यह तो उपाधिके सान्निध्यसे विकार प्रतिफलित हुआ है। जैसे कोई पूछे कि बताओ दर्पणका असली स्वरूप क्या है? तो दर्पणका स्वरूप है झलझाहट, चकचकाहट और उसमें जो फोटो आ रहा है, क्या वह दर्पणका स्वरूप है? दर्पणका स्वरूप नहीं किन्तु वह ऐसा ही झलझलाहट वाला पदार्थ है कि जिस उपाधिकें उपस्थित होनेपर उसके अनुरूप अपनेमें विकार कर लेता है। विकार एक विकृत कला तो है पर दर्पणका स्वरूप नहीं है, ऐसे ही जो विकार जगते हैं वे आत्माकी विकृत कलायें तो हैं किन्तु आत्माका स्वरूप नहीं है। जो आगममें बताया है स्वरूपतः पदार्थ अविकार होता है। अनुभव करने पर वह सही जँचा। आगममें बताया है कर्मविपाकका निमित्त पाकर वे विकार हुआ करते हैं। युक्ति ने यह बात सिद्ध कर दी है कि उपाधिका सान्निध्य हुए बिना एक पदार्थमें विकार आ ही नहीं सकते और इसी कारण ये मिट सकते हैं। विकार यदि औपाधिक न हों तो ये कभी मिट भी न सकेंगे, क्योंकि वे तो पदार्थमें स्वभावतः हुए हैं, मिटने का कोई उपाय ही नहीं, सामने भी देखते हैं कि दर्पणके सामने हाथ आया तो हाथका प्रतिबिम्ब दर्पणमें आ गया, हाथ हटाया कि दर्पणमें से प्रतिबिम्ब हट गया। यद्यपि हाथ कई हाथ दूर है और उस हाथ की गति दर्पण तक नहीं है। हाथ बहुत दूर, दर्पण बहुत दूर हाथने फोटो बनाया भी नहीं है। हाथ तो सामने हाजिर भर है और वह कुछ करता है तो अपनेमें अपना ही काम करता है, दर्पणमें कुछ नहीं करने जाता मगर निमित्त नैमित्तिक योग तो देखो कितना स्पष्ट विदित हो रहा है कि उस हाथका सामने सन्निधान पाकर दर्पणमें उस प्रकारका फोटो आया, वह फोटो औपाधिक है। दर्पणका स्वभाव नहीं है, दर्पणका चूँकि स्वभाव नहीं है इस कारण वह फोटो नष्ट हो जाता है। विलीन हो जाता है। हट जाता है। अब दर्पणमें ही अगर किसीमें खोट हो, जैसे कोई दर्पण भीतरमें कोई बिन्दु वाला है वे दर्पणके ही बिन्दु है, उस काँचमें ही कुछ ऐसी भीतरमें खराबी आयी कि वह बिन्दु सा हो गया, कुछ उठा सा लग रहा, उसे तो कोई मिटाये तो वह मिटता ही नहीं। तो ऐसा आत्मामें नहीं है कि आत्माके ही स्वरूपके कारण कोई आत्मामें खोट आ जाए। वैसे तो दर्पण कोई पदार्थ नहीं है। दर्पण तो पर्याय है, पदार्थ तो पुद्गल परमाणु है। अनेक पुद्गल परमाणुका मिलकर यह दृश्यमान पदार्थ बनता है। तो दर्पण भी द्रव्य नहीं है। अकेला द्रव्य परमाणु है तो वहाँ भी आकर विकार नहीं है, पर इतना फर्क है कि चूँकि परमाणुओका बंध किसी परपदार्थका निमित्त पाकर नहीं होता, किन्तु परमाणुओमें ही जो सिन्ध रूक्ष गुण है

उनकी ही घटाबढ़ी से होता है, इस कारण परमाणु एक बार शुद्ध होनेके बाद भी अशुद्ध हो सकता है, किन्तु जीवके विकार का निमित्त बाह्यपदार्थ ही है, स्वयं नहीं है। स्वयंका स्वयंमें होने वाला परिणमन तो विकारका कारण नहीं बनता वह तो स्वाभाविक परिणमन है, इस कारण जीवमें यह स्थिति नहीं आ पाती कि एक बार शुद्ध होकर फिर अशुद्ध हो सके। प्रयोजन यहाँ यह है कि जीव चैतन्यमात्र है, उससे विकार नहीं है, चैतन्य ही मेरा स्वरूप है, यह बात अनुभवमें भी आती है, युक्ति भी बता रही है। यह ही आगममें लिखा है। तो जो हमारे कामकी बाते है, जो हमारे अनुभवमें आ सकती है वे बाते जब आगमसे बिल्कुल ठीक मिलती है तो आगमकी प्रामाणिकता अपने अनुभव बलसे भी हो गई। अब जो ऐसे वीतराग आत्मकल्याण में लगे हुए ऋषि सन्त है वे किसी असत्य बातको लिखना ही क्यों चाहेंगे ? उनकी कोई खुदगर्जी नहीं है। तो ऐसे अरहंत भगवानके मूलसे चला आया हुआ आगम सूत्र कहलाता है। इसको गणधर देवोंने भली प्रकार गूथां और इस आगमके सहारे श्रमण, साधुजन, आत्महिताभिलाषी भव्य प्राणी अर्थकी खोज करते है, तथ्यकी खोज करते है, क्योंकि सूत्रकी रचना—आगमकी रचना केवल तत्वकी खोजके लिए है, तो सूत्रके अर्थकी खोज के लिए साधु पुरुष अपने परमार्थकी सिद्धि करते है और उससे आगे बढ़कर मोक्ष की सिद्धि करते है। मनुष्योको देव, शास्त्र, गुरुमें अटल श्रद्धा हो तो उस श्रद्धाके आधारपर उसके जीवनमें अलौकिक तथ्यका दर्शन हो सकता है, किन्तु जिस पुरुषकी आदत स्वच्छंद है और जरा भी समझमें कोई तत्व न आया तो झट यह कहनेको उद्यमी हो जाते है कि यह तो गलत है या उनमेंसे एक ही अर्थका एकान्त कर लेते है, ऐसे पुरुष अपने जीवनमें आत्मा—साधना नहीं बना पाते।

(5) ग्रन्थकी मंगलरूपता— यह ग्रन्थ अरहंतदेवने भाषा है। गणधरदेवने गूथा है और साधुजनोने उसकी साधना बनाया है। इसकी प्रथम गाथामें स्वयं मंगलाचरण बन गया। मंगलाचरण कोई स्पष्ट शब्दोंमें होता है और कोई तत्वदर्शन के रूपमें होता है। ये शास्त्र जिनके आधारसे हम अपना कल्याण करते है ये शास्त्र मूलमें अरहंत भगवानसे प्रकट हुए। उनकी महिमा चित्तमें समायी है, यह ही नमस्कार है। इस विशेषणसे यह भी सिद्ध किया गया कि जो वीतराग सर्वज्ञदेव नहीं है। ऐसे पुरुषोके द्वारा जो ग्रन्थरचना हुई हो, जिसको दर्शनका रूप दिया गया हो वह दर्शन यथार्थ तत्वका प्रतिपादक नहीं है उनके अभ्याससे, उनकी साधना से परमार्थकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि छद्मस्थ पुरुष पदार्थका स्पष्ट ज्ञान नहीं कर पाते। तो जो समझमें आया, जितना ही ध्यानमें आया उतना ही उन्होंने एकान्त करके लिखा।

(6) पदार्थकी द्रव्यपर्यायात्मकता होनेसे अनेकात्मयता— जैसे जीव तत्वके बारे में खूब खोज कर लीजिए, जीव सदा रहने वाला है या नहीं? कमसे कम इतना तो सब अनुभव कर रहे है कि जिनकी उमर 60—70 वर्षकी है वे जान रहे होंगे कि 60—70 वर्ष पहले से मैं वहीका वही जीव हूँ औरवही रहूंगा। तो एक भवमें तो सभी यह अनुभव किए बैठे है कि मैं वहीका वही एक हूँ, तो जैसे एक भवका निर्णय बना हुआ है कि मैं वहीका वही एक हूँ ऐसे ही यह इस भवको छोड़कर अगले भवके शरीरमें जाएगा वहाँ भी यह ही जीव है और यह जीव अनादिसे है, अनन्त काल तक है। जो कुछ नहीं वह प्रकट कैसे हो जाएगा? घड़ा भी तो बना तो मिट्टी थी तो घड़ा रूपमें प्रकट हुआ, वह अवस्था बनी, तो यह जीव अनादिसे है और अनन्त काल तक रहेगा, इस कारण यह नित्य है, किन्तु एक ध्यान और दीजिए कि इस जीवमें भाव अवस्थाये नई—नई आती रहती है या नहीं। गुणमें भी फर्क आया इस मनुष्य को। बचपनमें किस ढंगकी आदत थी, किस ढंग के विचार थे, किस ढंग

की आदत थी, किस ढंगकी फुर्ती थी और अब आज बड़ी अवस्था होनेपर किस ढंगके भाव हैं, कैसी गम्भीरता है, इस बातमें फर्क है कि नहीं.....है।तो ऐसे ही इस जीवमें भावोका नया-नया होना होता ही रहता है। तो चूँकि भाव नये-नये होते, पर्याये नई-नई प्रकट होती है, बदलती रहती है इस कारण यह जीव अनित्य है। पर्यायदृष्टि से जीव अनित्य है, द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है। अब इस अनेकान्तको स्वीकार न कर जो लोग केवल एक ही धर्मकी हठ कर लेते कि जीव तो अनित्य ही है, ऐसा अनित्य है कि पूर्ण अनित्य है। एक क्षणको ही पैदा हुआ और मिट गया, उसका लगाव ही नहीं रहता, उसका अस्तित्व ही नहीं रहता, वे नये-नये जीव आते रहते हैं। तो ऐसा तो किसीके अनुभवमें नहीं है। जो बात सालभर पहलेकी थी या किसीको मानो कुछ द्रव्य (धन) उधार दिया था और आज उसका स्मरण करता है कि मुझे इससे इतना लेना है तो वहीका वही जीव है तब ही तो स्मरण हो रहा। अगर नया-नया जीव आए तो आपके द्वारा दिए गएका स्मरण दूसरा कौन करेगा? आपके दिए हुएको हम तो स्मरण नहीं कर पाते। तो जीव एक है किन्तु अवस्थाये हो रही है इसलिए अनेक है अथवा सामान्य दृष्टिसे सभी जीव एक समान है इस कारण एक है और अनुभव सबके जुदे-जुदे है इस कारणसे अनेक है। तो ऐसे अनेकान्तसे पदार्थकी सिद्धि होती है और प्रभुका आगम स्याद्वादसे चिह्नित है। स्याद्वादसे सबका अर्थ लगाओ। अब रही आत्मकल्याणकी बात सो उसमेंसे जिस दृष्टि की मुख्तासे निर्विकल्पता आती हो उस दृष्टि मुख्य करके साधना बनावें।

(7) विशाल द्वादशाङ्कके कणके स्वाध्यायका भी महत्व— यह आगम अरहंत भगवानके द्वारा भाषित अर्थ वाला है। गणधरदेवने इसको 12 अंगोंमें गूँथा है। 12 अंगों का बहुत बड़ा प्रमाण है। और उसमें इतने संयोगी अक्षर है कि जितने अक्षर है उन सबका संयोग कर लिया जाए, जैसे हम आपके बोलचालमें कोई 3-4 संयोगी अक्षर हो पाते हैं, जैसे कहा कृष्ण तो संयोगमें कृष्ण ये अक्षर आ पाये, फिर कहा कृत्स्न तो उसमें कृत्स्न ये 4 अक्षर आये, लेकिन वहाँ तो 64 अक्षरोका एक-एक संयोग है। भिन्न-भिन्न अक्षर 64 माने गए हैं, प्रसिद्ध तो 16 स्वर हैं और 32 व्यंजन हैं और इनके अलावा जिह्यामूलीय उपदमानीय आदि ऐसे और भी होते हैं जिनका आजकल कोई प्रचार नहीं है। उर्दूमें कितने ही अक्षरोके नीचे बिन्दु लगाया जाता जैसे शरीफ, रफी फर्क आदि, तो ऐसे भी कुछ चिह्न हैं जो जिह्यामूलीय कहलाते हैं, उपदमानीय कहलाते हैं। क ख के प्रयोगमें जीभकी जड़में कुछ प्रयत्न होता है। प फ और प फ के बोलनेमें भी कुछ ओठोके भीतर यत्न होता है, तो ऐसी घातुओ ये सब 64 अक्षर कहलाते हैं। तो कोई-कोई संयोगी 64 अक्षरोका बनता है। कैसे क्या होता है यह अपने बोलनेमें नहीं आ सकता इसलिए द्वादशांग वाणी गन्थोंमें बद्ध नहीं हो पाती। वह तो एक संकेत या बोलनेमें आ पाती है। बोलनेमें भी सुनने वालेको अव्यक्त और उसीके जानने वालेको स्पष्ट रहता है। कितनी ही भाषायें पक्षी बोला करते हैं और कितनी तरहसे बोलते हैं उनमें क्या-क्या अक्षर हैं इसे हम और आप नहीं पहिचान सकते। फिर वहाँ तो केवल ज्ञानके साथ ध्वनि है। तो ऐसा महान विशाल सूत्र अर्थ द्वादशाङ्क; इसके मूलकर्ता अरहंत देव, उत्तरकर्ता गणधर देव और उत्तरोत्तर कर्ता आचार्य देव होते चले आये हैं। उन सूत्रोका अभ्यास करें इस प्रयोजनसे कि इसमें क्या तत्व भरा है, क्या तत्व कहा गया है। उस तत्वपर उपयोग जाए और अपने आपमें हितकी दृष्टिसे मनन किया जाए। यह ही आगमके अभ्यासका प्रयोजन है कि जिस किसी भी प्रकार हो, मेरेको सहज अविकार चैतन्य मात्र अंतस्तत्वका अनुभव बने।

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण।

णाऊण दुविह सुत्तं वट्ठई सिवमग्ग जो भव्यो।। 2।।

(8) अरंहत शाशित गणपतिग्रन्थित आगमका हिततथ्य जानकर उसमें प्रयत्नशील की मोक्षमार्गवर्तना— अरंहत भगवानने जो दिव्यध्वनि द्वारा भाषित किया है और गणधर देवने उसे गूथां है ऐसा दो प्रकारका सूत्र मायने आगम, उसको जानकर जो मनुष्य आत्मानुसारणी प्रवृत्ति करता है वह भव्य मोक्षमार्गमे स्थित है। जो आज आगम है वह भी अरंहतदेवके द्वारा भाषित है। गणधरदेवके द्वारा गूथा गया है। आचार्य परम्परासे यही चला आया है। ऐसे दो प्रकारके आगम जो भव्य पढ़ते हैं वे मोक्षमार्गमें स्थित है। कोनसे है वे दो प्रकार ? अंगबाह्या और अंगप्रविष्ट। अंग होते हैं 12 और उन 12 अंगोसे भी कुछ बचा हुआ है आगम। उसे बोलते हैं अंग बाह्या। जो अंगोमें है वह तो है अंग प्रविष्ट और जो अंगसे बहिर्भूत है वह है अंग बाह्या। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्याका मतलब क्या ? ये सब उनके नाम आयेंगे, उनके नामोसे विदित होता जाएगा। इस गाथाके यहाँ कहनेकी आवश्यकता क्या हुई कि पहली गाथामें यह बताया था कि साधुजन परमार्थ की सिद्धि करते हैं उस आगमके अध्ययनसे। तो एक यह जिज्ञासा हुई कि इस पंचमकालमें भी क्या परमार्थकी सिद्धि करने वाले लोग हैं, क्योंकि गणधरदेवका गूथा गया जो द्वादशांग है वह इस समय उपलब्ध नहीं है। भले ही कुछ लोगो ने छोटी-छोटी पुस्तको पर नाम रख दिया यह आचारांग है, यह सूचकृतांग है, यह अमुर्क अंग है, मगर अंगका तो इतना विशाल वर्णन है और इस रूपमें है कि वह तो लिखा ही नहीं जा सकता। उन अंगोमें जो विषय है वह विषय कुछ आचार्योने बताया है, पर ये सब आचार्य प्रणीत ग्रन्थ है। द्वादशांग नहीं है। पहले समयमें भी द्वादशांग लिखितरूपमें न था, मौखिक था। वह लिखा ही नहीं जा सकता आजकल तो मौखिक भी नहीं है। जब द्वादशाङ्ग नहीं है तो मोक्षमार्ग कैसे सधेगा? उसके समाधानमें यह गाथा दी है कि अरंहतदेवके द्वारा भाषित और गणधर देवके द्वारा गूथे गए उस द्वादशाङ्ग आगममें जो मनोबल विशेष होनेसे, वचन बल विशेष होनेसे जबानी कहा जाता था वह नहीं है मगर उसका कुछ विषय आचार्यपरम्परामें करके जाननेमें तो आ रहा है। जो आज ग्रन्थोमें उपलब्ध हो रहा है वह उस द्वादशांगका कर्ण बिन्दु है। उसे जानकर जो मोक्षमार्ग साधता है वह मोक्षका रास्ता बन रहा है। भले ही वह इस भवसे मोक्ष न जाएगा मगर संस्कार तो बना रहा है।

(9) इसपंचमकालमें प्रारम्भमें केवलिपरम्पराका दिग्दर्शन— अब इस जगह आचार्य परम्पराकी बात सुनो। वर्द्धमान भगवान जिस समय थे उस समय तो साक्षात् धर्म—प्रवृत्ति चल ही रही थी। वहाँ तो परम्पराका सवाल ही क्या? उनके मोक्ष गए पीछे तीन केवली हुए हैं। वे तीनों ही केवली चौथे कालमें तो उत्पन्न हुए थे और पंचम कालमें केवलज्ञानी हुए हैं। और ये तीन केवल परम्परासे हुए हैं। जैसे भगवान महावीरसे सम्बन्ध था गौतमका तो परम्परामें कहलाये वे केवली गौतम गणधर। और फिर गौतम गणधर के बाद उस परम्परामें सुधर्म गणधर हुए और सुधर्मके बाद जम्बूस्वामी केवली हुए। ये तीन तो परम्परासे केवली हुए, पर यह न जानें कि सिर्फ तीन ही केवली हुए। इसके अलावा और भी केवली हुए। चौथे कालमें उत्पन्न हुए, पंचमकालमें केवलज्ञानी बने, ऐसे और भी हैं, किन्तु उस परम्परामें नहीं हो पाये। ये हो गए। वर्द्धमान भगवानके बाद तुरन्त गौतम हुए उनके बाद दूसरे सुधर्माचार्य हुए, उनके बाद जम्बू स्वामी हुए। वे अलग-अलग स्थापर भिन्न-भिन्न समयमें केवलज्ञानी हुए हैं जो इन तीनों में नहीं है, पर तीनोंकी बात चली क्योंकि यहाँ परम्परा दिखानेका कथन है। इसके बाद केवलज्ञानी नहीं हुए।

(10) पंचमकालमें केवलिपरम्परा समाप्त होनेके बाद हुए पांच श्रुतकेवलीका निर्देश— तीन परम्पराके केवलज्ञानी होनेके बाद 5 श्रुतकेवली हुए जो द्वादशांगके पूर्ण ज्ञाता थे। पहले का नाम विष्णु द्वादशांगके ज्ञानी, दूसरे हुए नन्दि मित्र, समस्त द्वादशांगके ज्ञानी जहाँ द्वादशांगके ज्ञाता कहा वहाँ अंग बाह्यके ज्ञाता से ही लेना। यद्यपि अंग बाह्य द्वादशांग से थोड़ा अलग है फिर भी इसे लेना। अलग होनेका कारण यह है कि जैसे कोई कुछ रूपये गिन रहा, मान लो 725 चाहिए तो 7 तो 100-100 के नोट हो गए और 25 अलग हो गए जो 100 पूरे नहीं है तो वह कहलाया फुटकर शब्द लोग बोलते भी है, तो वे फुटकर रूपये गड्डीसे बाहर हो गए ऐसे ही इसका पद होता है। और एक पदमें लाखो करोड़ो अक्षर हो जाते हैं, इस पदके मायने हमारा विभक्त वाला पद नहीं किन्तु उसके हिसाबसे 64 अक्षर अलग और 2 संयोगी, 3 संयोगी, 4 संयोगी फिर वे भी भिन्न-भिन्न संयोगी, ऐसे 64 तक संयोगी और वे भी भिन्न-भिन्न प्रकारसे तो ऐसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे सब अक्षर आ जाये इतने को एक पद कहते हैं। तो द्वादशांगमें पद आ गया मगर पदसे जो कम अक्षर रह गए वे अंग बाह्य हो गए। तो जैसे किसी ने दान किया 700 रु० का तो उसमें 1 रु० और भी शामिल समझकर 701 रु० का दान कर देता है, पर उस 1रु० को अलगेसे कोई नहीं बोलता। उसे तो यों कहा जाता है कि उसने 700 रु० का दान किया तो ऐसे ही जो लाखो करोड़ोकी संख्या वाले पूरे पदोंमें आये वह तो है द्वादशांग और जो पदसे कम रह गए सो वे हो गए अंग बाह्य। अब अंगबाह्य भी इतना विशाल है कि उसका ही जीवनमें अध्ययन नहीं हो सकता। तो द्वादशांगका तो कहना ही क्या है। तो समस्त द्वादशांगके ज्ञाता श्रुतकेवली कहलाते हैं। न्यायशास्त्रमें बताया है कि केवलज्ञानी और श्रुतकेवली दोनों बराबरके ज्ञानी हैं, पर फर्क यह है कि केवलज्ञानी तो प्रत्यक्ष लोकालोक को जानता है और श्रुत ज्ञानी श्रुत ज्ञानके बलसे सारे लोकालोक को जानता है। जैसे कोई श्रमण बेलगोल हो आया तो वह साक्षात् देख आया, पहाड़ी, बाहुलबलिकी प्रतिमा, नीचेके मंदिर लोगोका मिलना और एक कोई यहाँ हो बैठे-बैठे पुस्तकसे या किसी से सुनकर श्रमण बेलगोल के सम्बंधकी पूरी जानकारी सही-सही कर ले तो जाना तो उसने वैसा ही जैसा कि वहाँ पर जाकर आँखों से देखने वालेने जाना, पर इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंमें अन्तर है, तो ऐसे ही केवल ज्ञानी तो तीन लोक तीन कालकी बात स्पष्ट जानता है और श्रुतज्ञानी तीन लोक तीन कालका सब कुछ श्रुतज्ञानके द्वारा जानते हैं। प्रथम श्रुतकेवलीके बाद दूसरे श्रुतकेवली हुए नन्दिमित्र। तीसरे श्रुतकेवलीका नाम है अपराजित चौथे श्रुतकेवली हुए गोबर्द्धन, और 5 वे हुए भद्रबाहु।

(11) पंचम श्रुतकेवलीके समय हुए प्राकृतिक संघर्षका प्रभाव— अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए, इसलिए उनका नाम शास्त्रो बहुत आता है। भद्रबाहु श्रुतकेवली के समयमें ही करीब समझ लो 12 वर्षका अकाल पड़ा था तो उस समय तक सब साधु निरारम्भ, निर्ग्रन्थ, निर्वस्त्र थे। उस अकालमें साधुवोको बड़ी-बड़ी मुसीबतें आयी। चर्याको निकले तो बड़ा कठिन हो गया, अनेक भूखे लोग उनके साथ लग जाते थे और यहाँ तक सुना गया कि भरपेट भोजन किया हुआ पुरुष कोई मिले तो उसका पेट फाड़कर पेटके अन्दरका अन्न निकालकर खा जाते थे, ऐसा भीषण काल था। उस समय साधुवोकी बड़ी शोचनीय स्थिति हुई। तो कुछ साधुवोने तो ऐसा विवेक किया कि जब यहाँका क्षेत्र साधुवों के रहनेके काबिल न रहा तो चलो दक्षिण भारत चलें, उत्तर भारतमें अकाल था तो दक्षिण में चले गए। कुछ साधु इस उत्तर भारतमें रह गए, पर असुविधाये सामने आयीं तो कुछ श्रावकोंने विनती की कुछ उनको ही ऐसा जंचा तो एक जगहसे बात न बन सकी अकालके दिनोंमें सो 8-10 जगहोसे लेकर साधुजन भोजन करे। सोचा कि इसमें किसीको दिक्कत

भी न पड़ेगी, जिस जगहसे भोजन मिला उसे रखते गए, 7-8 जगहोसे ले आये, अगर रास्तेमें दूसरोके द्वारा भोजन छीन लिए जानेकी बात देखा तो उसे कपड़ेमें लपेटकर लाने लगे। अब उस समय दिनमें आहार चर्याके लिए जाना कठिन हो गया तो यह विचार किया कि कुछ गौधूलिका समय हो याने कुछ अँधेरा-उजेला-सा हो, सांयकाल अथव प्रातःकालका गौधूलिका समय हो जिसमें लोगोका आवागमन भी कम हो, ऐसे समयमें चर्याको निकलना चाहिए। अब ऐसे समयमें कुत्ते लोग भी उन्हें देखकर भौकनें लगते तो उनको भगानेके लिए एक डंडा भी चाहिए, सो एक डंडा भी उन्हे रखना पड़ा। ऐसी हालत बन गई उस 12 वर्षके अकालके अन्दर। धीरे-धीरे अकाल समाप्त हुआ तो फिर साधुजनोमें यह सलाह हुई कि अब तो फिर सभी साधुजनोको पूर्वकी भाँति अपना आचरण बना लेना चाहिए और उससे जो कुछ दोष लगे हो उनकी प्रायश्चित लेकर शुद्धि हो जाएगी उस समय कुछ साधु तो अपनी पूर्वकी चर्यामें आ गए और कुछ ज्योंके त्यों बने रहे। अपने आचार-विचारमें कोई परिवर्तन न किया।

(12) पांच श्रुतकेवली हो चुकनेके बाद 11 दशपूर्वविद् आचार्योका निर्देश-
अब अकाल निवृत्त हो जानेपर व संघभेद हो जानेपर याने इसके दो भेद हो गए, यह अमुक संघ के, यह अमुक संघके, फिर जिसको जितना ज्ञान चला आया था उस समय मौखिक ज्ञान था सो उन्होने अपने ज्ञानसे ग्रन्थ बनाया। दिगम्बर आचार्योने तो उनका नाम अलग रख करके ग्रन्थ बनाया ताकि किसीका यह भ्रम न हो कि यह गणधर देवका गूँथा गया अंग है। क्योकि यह तो परम्परा चल रही, दूसरे आचार्योने अंगोकानाम रखकर ग्रन्थ बनाया। तो यह फर्क आया है कि अंगके नाम पर भी वह साहित्य बिल्कुल थोड़ा है और जुदे-जुदे नाम घर कर बनाने पर भी जैसे षटषंडागम, कषाय पाहुड, समय पाहुड आदिक यह साहित्य कई गुना है। तो अंग तो बड़ा विशाल होता है। वह अंग शास्त्रो नही आ सकता, पर उन अंगोमें जो विषय समझा गया है उसका विषय ही लिखा जा सकता है। तो ऐसे ये 5 श्रुतकेवली हुए। यह सब आचार्योकी परम्परा बतायी जा रही है कि अरहंत भगवानकी दिव्यध्वनिमें बताया गया जो आगम है, वह परम्परासे आज तक चला आ रहा है। श्रुतकेवली केवल 5 ही हुए श्रुतकेवलीके बाद द्वादशांगके ज्ञाता तो रहे नही, किन्तु 10 पूर्वके पाठी कुछ हुए। 12वें अंगमें पूर्व होता है। 12वाँ अंग इतना बड़ा है कि 11 अंगका मिलकर भी परिमाण उसके आगे कुछ नही है, इतना विशाल है 12वाँ अंग। तो पूर्वका बहुत बड़ा परिमाण है। ऐसे 10 पूर्वके पाठी 11 मुनि हुए क्रमशः जिनके नाम (1) बिशाख (2) प्रौष्ठिल (3) क्षत्रिय (4) जयसेन (5) नागसेन (6) सिद्धार्थ (7) धृतिषेण (8) विजय (9) बुद्धिल (10) गंगदेव (11) धर्मसेन। पूर्वोका बहुत बड़ा भारी परिमाण है, या यों कहो कि 11 अंगके वे ज्ञाता तो थे ही, 10 पूर्व और जानते थे।

(13) दशपूर्वविद् हो चुकनेके बाद एकादशांगके पण्डित आचार्योका निर्देश-
11 दशपूर्वविदके बाद पूर्वके ज्ञाता नही रहे। 11 अंगके ज्ञाता रहे। सो ऐसे 11 अंगके जाननहार आचार्य 5 हुए, जिनके नाम है- नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंस। जैसे-जैसे समय गुजरता गया वैसे ही वैसे ज्ञानमें कमी आती रही। 11 अंगके ज्ञाता 5 आचार्य हुए। उनके बाद फिर सिर्फ एक अंगके ज्ञाता रह गए। एक अंगके धारी चार आचार्य हुए, जिनके नाम है-सुभद्र, यशोभद्र, भद्रबाहु और लोहाचार्य। इन चार तक बराबर द्वादशांगमें जैसी शिक्षा रचना थी उसमें से एक अंगकी रचनाके जाननहार थे। इसके बाद एक-एक अंगके भी ज्ञाता न रहे, किन्तु उस एकके किसी एक देश अर्थके जाननहार रहे। अब देखिये-द्वादशांगके विषयमें अत्यंत अल्प ज्ञाता थे वे आचार्य जो अन्तमें रहे और आज

जितना साहित्य है यह आगम भी बहुत विशाल मालूम होता है, अब समझिये उस एकदेशका क्या परिमाण रहा?

(14) पंचमकालमें लिपिबद्ध ग्रन्थ रचनाका प्रारम्भ— जिस समय एक देश अंगके ज्ञाता धरसेनाचार्य कुछ चिन्ता कर रहे थे मनमें कि इस पंचम कालमें आगे तो इतना भी ज्ञान नहीं रहनेका, तो फिर यह परम्परा कैसे रहेगी। उनकी समझमें आया कि मैं जितना जानता हूँ, उतना ही किसीको सिखाऊँ तो यह परम्परा चलती रहेगी। तब उन्होंने दक्षिण भारतके एक संघमें जहाँ कि दो मुनि उनको विद्वान जंचे, खबर भेजी कि हम आपके दो शिष्यों को अपना ज्ञान पढ़ा सकते हैं। यह खबर पाकर मुनिराजने अपने दो शिष्योंको धरसेनाचार्य के पास भेजा। धरसेनाचार्यने सर्वप्रथम उन दोनों शिष्यों की बुद्धिमानीकी परीक्षा करना चाहा, सो क्या किया कि दोनों ही शिष्योंको एक ही मंत्र आराधना करनेके लिए दिया, परंतु एकको उस मंत्रमें एक अक्षर कम करके दिया और एकको एक अक्षर बढ़ाकर वह मंत्र दिया, और कहा कि तुम दोनों इस मंत्रकी सिद्धि करो। सो दोनों शिष्योने अलग-अलग रहकर उस मंत्रकी आराधना किया। थोड़े ही दिनोंमें उनके समक्ष देवी प्रकट हुई, एकके सामने तो बड़े-बड़े दाँत वाली देवी आयी और एकके समक्ष कानी देवी आयी। तो उन दोनों शिष्योने सोचा कि देवीका रूप ऐसा तो होता नहीं, इस मंत्रसे क्या कुछ कमी है? तो अपनी ही बुद्धिसे उन दोनोंने अपना-अपना मंत्र सही कर लिया। कुछ दिन फिर साधना किया तो सही रूपमें देवियाँ प्रकट हुई। बस यह ही जानना था धरसेनाचार्यको कि इस मंत्रको सुधार सकने लायक इनमें बबुद्धि है या नहीं, उसके बाद उन्होंने पढ़ाया। उन दोनों शिष्योका नाम था— पुष्पदंत और भूतबलि। जिस समय धरसेनाचार्यका अंतिम समय आया तो उन्होंने इन दोनों शिष्योसे कह दिया कि अब तुम लोड़ जाइये, ताकि मुझे समाधि मरण करते हुएमें तुम्हारे प्रति राग मेरे चित्तमें न आये। वे जानते थे कि जिन शिष्यो को मैंने पढ़ाया उनके प्रति राग होनेकी सम्भावना है। तो धरसेनाचार्यका तो स्वर्गवास हुआ। पुष्पदंत, भूतबलिने षट्षंडागमकी रचना की। यह बहुत बड़ा विशाल करणानुयोगका ग्रन्थ है, जिसका ही कुछ थोड़ा-सा विषय यहाँ जीवस्थानचर्चामें चल रहा है। तो जब वह ग्रन्थ पूरा बन चुका तो वह था कोई जेठ सुदी पंचमीके करीबका दिन, या संभव है कि इसी दिन पूर्ण हुआ हो, तो उस समय बड़े समारोह के साथ उस लिखित ग्रंथकी लोगोने पूजा की और तबसे यह श्रुतपंचमीका पर्व प्रारंभ हुआ।

(15) अनेक आचार्यकी परम्परासे आगमका अब तक चला आ रहा प्रवाहका परिचय— फिर उसी समय कषाय पाहुड ग्रन्थकी रचना हुई फिर उस परम्परासे अनेक ग्रन्थ दार्शनिक शास्त्र, करणानुयोग ये सब रचनेमें आने लगे। और इतना विशाल आगम आज जैनागम पाया जा रहा है। तो इस आगमकी यह परम्परा है, परम्परासे चला आया है आगम इसलिए इसमें प्रामाणिकता है। दूसरे-वस्तुके स्वरूपके अनुसार वर्णन है, जहाँ कोई विरोध नहीं आता। जो परोक्षभूत पदार्थोका वर्णन है वह इसके लिए एक श्रद्धासे प्रमाणीक है, क्योंकि जिस आगममें अनुभवमें उतरने वाले तत्वोंका स्वरूप सही-सही दिखाया है वहाँ परोक्षभूत पदार्थो का स्वरूप मिथ्या क्यों माना जाएगा ? आज भी ग्रन्थके लिखने वालेपर पढ़ने वालेको अगर श्रद्धा है तो वह उस ग्रन्थसे लाभ उठा लेता है और यदि कोई उस ग्रन्थको कुछ संदेहके साथ पढ़ रहा है, ग्रन्थकर्तापर विश्वास नहीं है तो उससे वह आत्महितके लिए फोर्स (बल) न पा सकेगा। तो जो आगम आज है उसके लेखक आचार्य वीतरागी थे, आत्मकल्याणके अभिलाषी थे, अतः जो भी आगममें उन्होंने लिखा है वह सब सही है, ऐसी श्रद्धा ज्ञानीका रहती है।

(16) आगममें अपुनरुक्त अक्षरोकी गणना— इस दूसरी गाथामे अभी यह बताया गया था कि भगवानकी दिव्यध्वनि की परम्परासे, आचार्योंकी परम्परासे जो आगम अब तक चला आया है, उसका पूर्णरूप द्वादशांग था। आज तो द्वादशांग है नहीं, पर समस्त आगम द्वादशांग और अंगबाह्यमें है। उसी सम्बंधमें बतलाते हैं कि वे 12 अंग कौन से हैं, और उन अंगोंमें कितने पद हैं, कितने अक्षर हैं। पहले तो यह जानना कि अपुनरुक्ताक्षर याने जो अक्षर एक बार कह दिया जाए उसे फिर दुबारा न कहा जाए ऐसे अपुनरुक्ताक्षर कितने होते हैं? तो अब अंदाज कीजिए कि जैसे इकहरे-इकहरे तो 64 अक्षर हैं, अब उनको एकमें दूसरा मिलाया, फिर उसे हटाकर और दूसरा मिलाया तो ऐसे द्विसयोगी अक्षर कितने हो सकते हैं बहुत अधिक संख्या होगी। केवलदो ही अक्षर मिले तो 64 में 64 का गुणा करें तो जितना गुणनफल आया उससे एक अक्षर माना जाये और वह भी बदल-बदलकर उनका प्रमाण, ऐसे ही 4-5 आदि जोड़-जोड़कर 64 अक्षर तक मिलावे और फिर उनको बदल-बदलकर मिलावें तो वे सारे अक्षर कितने होंगे कि जो दुबारा न कहे जायें। तो आज जितनी संख्या अधिकसे अधिक मानी जाती उससे कितनी अधिक हो जाती जिसको बताया है कि 20 अंक प्रमाण अपुनरुक्त अक्षर है। जैसे इकाईमें एक अंक, दहाईमें दो अंक, सैंकड़में तीन अंक, इस तरह क्रमसे लगाते जाइए, हजारमें 4 अंक, दस हजारसे 5 अंक, लाखमें 6 अंक, 10 लाखमें 7 अंक, करोड़ों में 8 अंक, 10 करोड़में 9 अंक, अरबमें 10अंक, 10 अरबमें 11 अंक आदि — बस इतनी ही आजकल संख्या चल रही है, आजकल खरब, नली, पदम आदि संख्यावोका रिवाज नहीं है। इसी क्रमसे चलते जाइये तो 10 अंक हुए, और अक्षर है 20 अंक प्रमाण, इसके मायने है कि हजारो शंख हो गए, अक्षर अपुनरुक्त है।

(17) आगममे पदोकी गणना— आगमके अपुनरुक्त उन अक्षरोका पद बनाया जाए तो पद कम होते हैं। यहाँ विभक्तितवाले पदसे मतलब नहीं। पदकी एक सीमा है। एक मध्यम पद 16 अरब, 34 करोड़, 83 लाख, 07 हजार, 888 अक्षरोंमें माना गया है। इतनेका गुणा उन 20 अंकोंमें दिया जाये तो सर्व पदोकी संख्या कितनी हुई याने अपुनरुक्त अक्षर वाले द्वादशांग समस्त आगममें कितने पद हुए, जिनका प्रमाण है— 1 अरब, 12 करोड़, 83 लाख, 58 हजार, 005 इतने सारे आगमके पद हैं और एक पद इतना बड़ा होता कि बड़ासे बड़ा एक ग्रन्थ एक पदमें न कहलाएगा। अब यहाँ यह जानना कि यह पद जो बतलाया है अभी इससे भी कुछ बच गया है आगम, जो एक पदमें नहीं आता, किन्तु अक्षर ही रह गए उनको बोलते हैं अंगबाह्य। इस प्रकार अंगप्रवृष्टि और अंगबाह्य ये समस्त आगम कहलाते हैं। जो अक्षर बच गए थे, जो एक पद नहीं कहलाये, वे अक्षर हैं 8 करोड़, 01लाख, 08 हजार, 175। इतना बड़ा आगम है जिस आगमको कोई पुस्तकमें नहीं बाँध सकता, मगर अकालके समय जो जैनशासनमें संघभेद बन गया था तो दिगम्बर जैनसंघ में तो सही बात रखी याने जो शास्त्र बने, चाहे उनमें उस द्वादशांगका भी कोई शब्द हो तिसपर भी ग्रन्थोके नाम दिए गए हैं, अंगके नाम नहीं दिये, किन्तु दूसरे संघने अंगोके नाम दिये हैं अपनी छोटी-छोटी पुस्तकोके?

(18) आचारांग सूत्रकृतांग व स्थानांगके विशय व पदगणनाका निर्देश— अब उस द्वादशांगके नाम और प्रत्येक अंगमें कितने पद हैं उसका वर्णन किया जा रहा है। 12 अंगके नाम हैं —(1) आचारांग, (2) सूत्रकृत अंग, (3) स्थान अंग, (4) समवाय अंग, (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, (6) ज्ञातृधर्मकथा अंग, (7) उपासकाध्ययन अंग, (8) अंतकृत दशांग अंग, (9) अनुत्तरोपादक दश अंग, (10) प्रश्न व्याकरण अंग, (11) विपाकसूत्र अंग, (12) दृष्टिवाद अंग। इन 12 अंगोंमें जो दृष्टिवाद अंग है अन्तिम, उसका बहुत बड़ा रूप है, जिसके आगे

ये 11 अंग मिलकर भी बहुत छोटा रूप रहता है। इसका वर्णन करेंगे, पर पहलेसे सुनो—आचारांग मायने क्या? जिस अंगमें मुनियोके आचरणका वर्णन हुआ, कैसे ठहराना, बैठना, चर्या करना, कैसा यत्न रखना, किस तरह ध्यानमें आना, उनका क्या तप है, यह सब वर्णन आचारांगमें आता है। इसके 18 हजार पद है। एक पदक तो करोड़ो अक्षर होते है, ऐसे 18 हजार पद है। दूसरा अंग है सूत्रकृत अंग। एक सूत्रकृत अंगमें क्रियावोंका विशंष वर्णन है। कैसी ज्ञानीजनोंका विनय करना, कैसे धर्मात्माजनोंका आदर करना, कैसी स्वमतकी धर्मक्रिया है कैसी परमतकी धर्मक्रिया है ऐसी धार्मिक क्रियाका विशेष वर्णन है। इस अंगके 16 हजार पद है। तीसरा अंग है स्थान अंग। इस स्थान अंगमें पदार्थों का स्थानके अनुसार वर्णन है। जैसे 2—2 क्या चीजें होती है उनका संग्रह। समस्थानका वर्णन है। कुछ वर्णन ग्रन्थोका अनुसार समस्थान सूत्रमें किया है। एक क्या है ? केवल एक सत्व। 2 क्या है ? ऐसे सैंकड़ो पदार्थ । 3 + 3 क्या ? जिसके भेद 3+3 है, 4+4 है ऐसे 100—100 तकके भेदके अलग अध्याय है। और हजार लाख करोड़, संख्यात, असंख्यात, अनन्त कितने क्या—क्या होते है, यह सब वर्णन है। पर स्थान अंगमें इसका बहुत ही अधिक वर्णन है एक स्थानके आश्रयसे भी भेदोका वर्णन इस अंगमें है। जैसे— जीव सामान्यतः एक है, विशेषतः दो है, 3 प्रकार है, इस तरह एक—एक पदार्थके भी अनेक स्थान बताये गये है। इस तरह भी स्थानका वर्णन है। इस अंगमें 42 हजार पद है।

(19) समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा व उपासकाध्ययन अंगके विषय व पदगणनाका संकेत— समवाय। इसमें समानताका वर्णन है। जीवादिक 6 द्रव्योका द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिक रूपसे वर्णन है और इसमें जब सबका वर्णन चल रहा तो किसका किसके समान है, यह भी बात आती है। जैसे कहते है ना— जम्बूद्वीप, सौधर्मस्वर्ग का पहला ऋतु विमान, सर्वार्थसिद्धि ये सब एक बराबर क्षेत्रके है। इसी तरहसे अनेक बातों का वर्णन है, इसके पद है 1 लाख 64 हजार। 5वाँ अंग है—व्याख्याप्रज्ञप्ति। इस व्याख्याप्रज्ञप्तिमें 60 हजार प्रश्नोका और उत्तरोका वर्णन है। जैसे कि तीर्थकरोके समयमें गणधरदेव प्रश्न करे और उत्तर करे, ऐसा इस उत्तरका वर्णन इस अंगमें है। इसके पद है 2 लाख 28 हजार, किन्तु उन प्रश्नोत्तरोका बहुत अधिक विशाल रूप हो जाता है। छठे अंगका नाम है—ज्ञातृधर्मकथा। इसमें तीर्थकी धर्मकथाये है। जीवादिक पदार्थोंके स्वभावका वर्णन गणधरके प्रश्नोका उत्तर, इसके पद है 5 लाख 56 हजार। व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रश्नोका इसके उत्तरसे भी सम्बंध है। 7वाँ अंग है—उपासकाध्ययन। उपासक कहते है श्रावकको। श्रावकके धर्मका जिसमें वर्णन है उसे उपासकाध्ययन कहते है। इसमें 11 प्रतिमा और श्रावकोके आचरणका वर्णन है। किस प्रतिमामें कैसी प्रवृत्ति है, किस रूप कषाय है, कैसा श्रावकको आचरण करना चाहिए श्रावकोके धर्मकी सब बातें इस अंगमें है। इसके पद है 11 लाख 70 हजार।

(20) अन्तःकृतदशांग व अनुत्तरोपपादक दशाङ्गके विशय व पदगणनाका संकेत— 8वें अङ्ग का नाम है— अंतःकृत दशांग। एक—एक तीर्थकरके समय में 10—10 ऐसे केवली हुए है जो अन्तःकृत कहलाते है। जिनपर घोर उपसर्ग हुआ और उपसर्गके प्रसंगमें जिनको ज्ञान हो गया, केवलज्ञानहो गया, ऐसे 10—10 अन्तःकृत केवलियोका इस अंगमें वर्णन है। इस अंगके पद है 23 लाख 28 हजार। 9वें अंगका नाम है — अनुत्तरोपादक दशांग। 16 स्वर्गोसे ऊपर नवग्रैवेयक है, 9 ग्रैवेयकसे ऊपर 9 अनुदिशा है, उसके ऊपर 5 अनुत्तर विमान है। इन अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न होने वालो को अनुत्तरोपादक कहते है। यह नियम है कि अनुत्तर विमानोंमें जो देव उत्पन्न हुए उनमें सर्वार्थसिद्धिके देव तो एक भवावतारी है। वहाँ से चय कर मनुष्य होकर उसी भवसे मोक्ष जायेगे। शेष चार अनुत्तर

विमानोके अधिकसे अधिक दो भवावतारी है। दो भव मनुष्यके पाकर वे मोक्ष जायेंगे। 10—10 मुनिवोंका वर्णन है जो तीर्थकरके समयमें ऐसे 10—10 महामुनि घोर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानमें उत्पन्न होते हैं। पहले जो अन्तःकृत दश नामा अंग था उसमें तो उपसर्ग सहकर केवलज्ञानी हुए और इस अंगमें उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानोंमें हुए उनका वर्णन है। इसमें पद 92 लाख चवालीस हजार है।

(21) प्रश्नव्याकरणांगके विषय व पदगणनाका निर्देश— 10वें अंगका नाम है—प्रश्नव्याकरणनाम अंग। इसमें शुभ—अशुभ स्वप्नदिकका या किसी घटनाका कोई प्रश्न है और उत्तर है। भूतकालमें जो शुभ—अशुभ घटना हुई उसका प्रश्नोत्तर है। अनागत काल में, भविष्यमें कोई शुभ—अशुभ बातें हुई, उनका प्रश्नोत्तर है तथा वह कैसे दिया जाये उत्तर उन उपायोका वर्णन है। यो तो प्रश्न बहुत हो सकते। भिन्न—भिन्न घटना है, अगर ऐसा प्रश्न हो तो उसका क्या फल है, किस तरह उत्तर हो, उन उपायोका संकेतोका वर्णन है। इसके अतिरिक्त चार प्रकारकी कथावोका भी वर्णन है। कथाये चार तरहकी होती है—आक्षेपणी—जो खण्डन मंडनरूप है, दूसरे पर आक्षेप करने वाली है वे आक्षेपणी कथायें हैं। विक्षेपणी—जो कुछ विक्षेप उत्पन्न करे। उपयोग जिससे घूमें अथवा जिसमें कोई क्षोभ वाली कथायें हैं। संवेदनी और निर्वेदनी— ये धर्मवर्द्धक और निर्वेदनी कथामें वैराग्य भावना बनती है। तो इन चार तरहकी कथाओका वर्णन है। कथाओके मायने कहानी ही नहीं, किन्तु ऐसा वाक्य प्रबन्ध, जिसमें ये चार प्रकारकी बातें आयें। समाधिमरण कोई मुनि कर रहा हो उस समय उसे आक्षेपणी और विक्षेपणी कथा न सुनायी जाएगी, उसे आवश्यक है धर्ममें रूचि बढ़े और संसार शरीर भोगोसे वैराग्य बढ़े, तो उसे संवेदनी और निर्वेदनी ये दो कथायें ही सुनाई जाती है। इस अंगमें 93 लाख 16 हजार पद है।

(22) विपाकसूत्रांगके विशय व पदगणनाका विवरण— 11वें अंगका नाम है—विपाकसूत्रनामा अंग। इसमें कर्मोके उदयका वर्णन है। कर्मोंमें तीव्र मंद अनुभाग फल देने की शक्ति होती है और किस द्रव्य क्षेत्र काल भावसे लेकर कैसा फल मिलता है इन सबका वर्णन है। कर्म उदयम आते हैं, पर उदय होनेपर भी जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका योग होता है उसके अनुसार उसकी तीव्रता मंदता बन जाती है। जैसे किसी समय तीव्र क्रोध आ रहा हो और वह हो मंदिरमें तो बताओ उसके क्रोधमें कुछ थोड़ा फर्क पड़ेगा कि नहीं ? अवश्य पड़ेगा। इसीलिए तो बताया है कि अपना अधिक समय धर्मसाधनामें बिताना चाहिए। इसी तरह काल भाव की बात है। कर्मविपाकका तो कोई नियत समय नहीं है। किसी कारण कुछ भी हो जाता है। सुबह के समय ब्राह्म मुहूर्त में प्रायः लड़ाइयाँ कम देखी जाती हैं और क्रोध प्रकृतिका तीव्र विपाक होता भी होगा, मगर वह काल कुछ ऐसा धर्म अध्ययन स्वाध्याय आदिकका है कि जिस समय में उसके क्रोधादिक तीव्र नहीं हो पाते। हो भी जाये यह नियम नहीं, किन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है। तो किस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे किस प्रकारका कर्मफल देता है यह सब वर्णन इस 11वें अंग में है। इसके पद हैं 1 करोड़ 84 लाख। ये तो 11 अंग हुए। 12 वाँ अंग है—दृष्टिवाद नामा अंग। सामान्य रूपसे समझ लीजिए कि 4 करोड़ पद है।

(23) दृष्टिवाद अङ्कके विशय व पदगणनाका निर्देश — अब 12वाँ जो अंग आयेगा उसके पद इसमें कई गुणित हो जाते हैं। तो 12वें अंगका बहुत बड़ा विस्तार है। इसका नाम है दृष्टिवाद अंग। इसमें अनेक प्रकारके वर्णन हैं जिनमें मुख्यता 363 कुयोनियोकी है। खोटे मत 363 प्रकार के होते हैं। यद्यपि ऐसे मत आज प्रकट नहीं दिख रहे, मगर सिद्धान्त और विचारके हिसाबसे एकका दूसरेसे फर्क दिखता। जैसे 363 कुवादी

हो जाते हैं। आज तो खालिस धर्म याने जिसमें कई सम्प्रदायोका जुड़ना किया गया हो, बहुत कम मिलतें हैं, जैसे—जैन, बौद्ध, नैयायिक आदि। उनमें कौन अच्छा कौन बुरा, यह बात नहीं बतला रहे किन्तु जैनमें जैनदर्शनकी ही बात मिलेगी, बौद्धमें बौद्धदर्शनकी ही बात मिलेगी, इस तरह से अन्य दर्शन बहुत कम हैं। जैसे एक हिन्दू सम्प्रदाय ही ले लो, उसमें एक दर्शन नहीं है। कुछ सांख्य दर्शन कुछ नैयायिक दर्शन, कुछ सीमांसक दर्शन, कुछ वैशेषिक दर्शन है, कई दर्शन मिलेंगे और कभी—कभी जैनदर्शन भी आ गया है तो यह तो खालिस कुवादकी बात कह रहे। जिसमें एककी दूसरेमें मिलावट नहीं, ऐसे कुवाद 363 है। इनका वर्णन इस दृष्टिवाद अंग में है। अब इस सम्बन्धको लेकर कुछ खोटा वर्णन होगा। कुछ भला भी वर्णन होगा, पर उनका सम्बन्ध 363 कुवादसे है। दृष्टिवाद अंगका विशेष खुलासा इससे आगे किया जायगा।

(24) दृष्टिवाद अंगके पांच विभाग— अरंहत देव के द्वारा भाषित अर्थात् दिव्यध्वनि से प्रकट हुए गणधरदेवके द्वारा गूँथा गया जो द्वादशांङ्ग आगम है उसमें अब तक 11 अंग का वर्णन हुआ। 12वें दृष्टिवाद अंगका समान्यतया वर्णन तो किया था कि इसमें 108 करोड़ 68 लाख 56 हजार पद हैं। इतने पद 11 अंगके मिलकर भी नहीं हैं। अब 12वें अंगका विस्तार कितना है सो सुनो 12वें अंग के पहले तो 5 विभाग बनाओ, परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। 11अंग 14 पूर्व जो कहे जाते हैं उनमें समस्त आगम नहीं आता, पर 14 पूर्वका इतना बड़ा विस्तार है कि जितना विस्तार बाकी समस्त आगम का नहीं है, इस कारण 14 पूर्व कहनेसे 11 अंग भी समझ लिये जाते हैं। अगर यह कहा जाय कि अमुक मुनि 10 पूर्वके धारी हैं तो उसके मायने यह है कि 11 अंग तो जानते ही हैं, 10 पूर्व और जान रहे हैं क्योंकि जो बड़े प्रमाणकी चीज है उसकी बोल देनेसे छोटे प्रमाणकी चीज समझमें आ जाती है। तो अब दृष्टिवाद अंगके ये 5 विभाग हैं।

(25) परिकर्मगत चंद्रप्रज्ञप्ति व सूर्यप्रज्ञप्तिके विषय और पदगणनाका निर्देश— परिकर्ममें क्या वर्णन आता है? गणित शास्त्रका। गणित के करणसूत्र, जिसे कहते हैं गुर। पहले हिसाब—किताब लगानेके लिए गुर हुआ करते थे, तो करण याने गणितका समस्त हिसाब बताने के लिए सूत्र है ना? उस परिकर्ममें 5 भेद हैं—(1) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (2) सूर्यप्रज्ञप्ति, (3) जम्बद्वीप प्रज्ञप्ति, (4) द्वीपसागर प्रज्ञप्ति और (5) व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रमा के हिसाब से गणित बताया गया है। पहले तो चन्द्रमाका परिवार बताया चंद्र ज्योतिषी देवोका इन्द्र है जो दिखता है लोगो को चंदा, वह चंद्र देव नहीं है किन्तु चंद्रदेवके रहनेका विमान है। तो उस चंद्रदेवका परिवार कितना है? वह कहाँ तक आता जाता हैं उसकी बढ़ोतरी कितनी है, कभी हानि हो तो कितनी है। उसके परिवारमें तारे सूर्य यतीन्द्र है, उसका परिवार अलग गिनाया है, पर तारे नक्षत्र वगैरह ये चंद्रके परिवार है। ग्रह वगैरह इसमें सब आ जाते हैं। तो इन ग्रहोकी चालसे, चंद्रकी चालसे गणित चलता है। जैसे हिन्दुस्तानमें चंद्र, उसके हिसाबसे महीना चलता है। तभी तो पूर्णिमा वह कहलाती है जिस दिन पूरा चाँद हो और चन्द्रकी अपेक्षा महीना माननेसे तीन साल बाद करीब 13 महीनेका साल आता है, याने उस वर्षमें 13 चाँद निकलते हैं। पूरे अन्य सम्वत्सरोमें पूरे चाँद 12 निकलते हैं, तो चंद्रकी गतिके हिसाबसे महीना, ग्रहण आदि सब बातें निकाल ली जाती हैं। और भी गणित उसके हिसाबसे बने, यह सब चंद्रप्रज्ञप्ति है। इसके पद हैं 36 लाख, 5 हजार। दूसरा परिकर्म है सूर्यप्रज्ञप्ति इसमें सूर्यकी ऋद्धिका, परिवारका, गमनागमनका वर्णन है। कई जगह सूर्यके हिसाब से माह माना जाता है और अब आजकल यह प्रायः गौण हो गया है। इसे कहते हैं सौरमास । और 12 राशिके जो 12 सूर्य बताये

गए वे सौरमासके हिसाबसे है। जैसे करीब असौजमें कन्याराशिका सूर्य होता है और उसमें बहुत तेज गर्मी। पड़ती है, कुछ भाद्रपदसे भी लिया जाता है तो ऐसे अलग-अलग राशिमें अलग-अलग सूर्य बताये गए हैं, तो सूर्यकी गतिसे भी गणित निकलता है। इसके पद है 5 लाख 3 हजार।

(26) परिकर्मगत जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति व द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व व्याख्याप्रज्ञप्ति के विषय व पदगणनाकी संख्या— तीसरा परिकर्म है जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। इसमें जम्बूद्वीपसे सम्बन्धित सब रचनाओ का वर्णन है। जम्बूद्वीपमें एक मेरु है, 6 कुलाचल पर्वत है, जम्बूद्वीप गोल है। उस गोलके बीचमें 6 कुलाचल आनेसे 7 क्षेत्र बन जाते हैं। उनका विस्तार, उनकी रचना कौन कहाँ जीव रहते हैं आदिक वर्णन इस जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति है। इसके पद है 3 लाख 25 हजार। चौथा परिकर्म है द्वीपसागर प्रज्ञप्ति। इसमें द्वीप और सागरोका वर्णन है। यद्यपि जम्बूद्वीप भी इसमें आ गया, पर जम्बूद्वीपका विशेष वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में है। तो जहाँ थोड़ा वर्णन लेकर बाकी द्वीप समुद्रोका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जैसे जम्बूद्वीपको भेड़े हुए लवण समुद्रं है। जम्बूद्वीप तो एक लाख योजनका है पर लवण समुद्र एक और दो लाख योजनका है। पर इस दृष्टिसे देखा जाय तो कहा तो यों जाता है कि उस जम्बूद्वीपसे दूना क्षेत्र है लवण समुद्रका पर दूना नहीं, कई गुणा क्षेत्र बन जाता है। जम्बूद्वीपको धेर कर लवण समुद्र है मगर वह दूना एक तरफ है। दूसरी तरफका उतना दूना है, चारो तरफ दूना-दूना है। उसको घेरे हुए दूसरा द्वीप है। वह लवण समुद्रसे भी दूना है और वह दूना एक-एक तरफ है ऐसे दुगने-दुगने द्वीप और समुद्र है। और उनकी गणना असंख्यात है। तो द्वीप और सागरोका वर्णन इस चौथे परिकर्ममें है। इसके अलावा यह भी बताया गया कि वहाँ कितने ज्योतिषी देव है, व्यन्तर देव है, भवनवासी देव कहाँ-कहाँ रहते हैं, व्यन्तर आदि कहाँ-कहाँ रहते हैं और उनके भवनोंमें जिन मन्दिर है तथा अलग भी जिन मन्दिर है। तो समस्त द्वीप सागरोंमें किन-किन द्वीपोंमें मन्दिर है। यह भी उसमें वर्णन आया है। अजीव पदार्थके प्रमाणका वर्णन किया गया इसमें पद है 52 लाख 36 हजार। 5 वाँ परिकर्म है व्याख्याप्रज्ञप्ति। इस परिकर्ममें जीव है। जीव कितने है, अजीव कितने है, उनका कैसा स्वरूप है, इन सबकी व्याख्या की गई है इसमें पद है 84 लाख 36 हजार। इस प्रकार इन पाँचो ही परिकर्मोंसे समस्त पद जुड़ जाये तो एक करोड़ 81 लाख, 5 हजार पद होते हैं। यह दृष्टिवाद अड्डके पहले विभागका वर्णन है।

(27) दृष्टिवाद अंगके द्वितीय विभागसूत्रके व तृतीय विभाग प्रथमानुयोगके विषय एवं पदगणनाका निर्देश— अब दृष्टिवाद का दूसरा विभाग है सूत्र। सूत्र नामक अधिकारमें 63 कुवादियोका वर्णन है जिसके मिथ्यात्वका उदय है, मिथ्यात्वमिश्रित जिसका प्रलाप है ऐसा 63 कुवादीका पूर्व पक्ष लेकर उनको जीवादिक पदार्थों पर लगाना, उनका निराकरण करना यह सब इस सूत्र नामक परिकर्ममें है। यों समझिये कि बड़े-बड़े दर्शनशास्त्र, न्यायशास्त्र ये सब इस सूत्रसे निकले हुए हैं। इसके पद 88 लाख है। अब 12वें अंगका तीजा विभाग प्रथमानुयोग है। प्रथमानुयोगमें 63 सलाका पुरुषोका चरित्र है। महापुरुषोकी उसमें कथाये बतायी गई है उनमें जीवको उपदेश मिलता है। कैसे-कैसे महापुरुष हुए हैं, उनकी पहले क्या प्रवृत्ति रही थी। कैसे वेराग्य हुआ, कैसे धर्मध्यानमें लगे, कैसे उनपर उपसर्ग आया, निर्वाण हुआ या स्वर्ग आदिकमें गए, या जिस गतिमें गए, यह सब वर्णन प्रथमानुयोगमें मिलता है। प्रथमानुयोग तो बड़ा प्रसिद्ध शब्द है। जितने आजके पुराण है वे सब प्रथमानुयोगमें कहलाते हैं। इनके पद है 5 हजार। 5 हजारकी भी बहुत अधिक संख्या है। इसमें कितने ही ग्रन्थ आ जायेंगे। उसमें भी 5 हजार पद पूरे न होंगे।

(28) दृष्टिवादके चौथे विभाग पूर्व नामक आगमका संक्षिप्त विवरण— अब 12वें अंगका चौथा अधिकार है पूर्वगत। इस पूर्वगतका बहुत बड़ा प्रमाण है। ये पूर्व होते हैं 14। उन 14 पूर्वोंके नाम हैं—(1) उत्पाद नामपूर्व (2) अग्रायणी नामपूर्व (3) वीर्यानुवादनामपूर्व (4) अस्तित्नास्ति प्रवाद नामापूर्व (5) ज्ञानप्रवादनामापूर्व (6) सत्यप्रवाद नामापूर्व (7) आत्मप्रवाद नामापूर्व (8) कर्मप्रवाद नामापूर्व (9) प्रत्याख्यान नामापूर्व (10) विद्यानुवाद नामापूर्व (11) कल्याणवाद नामापूर्व (12) प्राणवाद नामापूर्व (13) क्रियाविशाल नामापूर्व (14) त्रिलोक बिन्दुसार नामापूर्व। इनमें जो 10वें पूर्व तकका ज्ञाता हो गया वह ऋद्धि वाला माना जाता है, और 10 वाँ पूर्व सम्यग्दृष्टिके ही सिद्ध होता है। 9 पूर्व तक मिथ्यादृष्टि मुनिके भी ज्ञान हो जाता है। 11 अंग और कुछ ये परिकर्म और 9 पूर्व, यहाँ तकका ज्ञान अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मुनिराजके हो जाता है। अब वे भी मुनिराज बहुत ऊँचे बड़े-चढ़े ज्ञानी विद्वान तपश्चरणमें सवाधान किसीपर रागद्वेष न करने वाले ऊँचे ही पुरुष होते हैं, लेकिन मिथ्यात्वका ऐसा उदय है कि कोई सूक्ष्म अंश मिथ्यात्वका रह गया। 10 वाँ पूर्व उनको ही सिद्ध होता है जो सम्यग्दृष्टि है। इसीलिए 10वाँ पूर्व बहुत प्रसिद्ध है।

(29) उत्पादपूर्व व अग्रायणी पूर्वके विशय व पदगणनाका निर्देश— इन 14 पूर्वों में प्रथम पूर्व है उत्पाद पूर्व। इस पूर्व में वस्तुके उत्पाद व्यय ध्रौव्यादिक अनेक भेदोकी अपेक्षा भेदका वर्णन है। उत्पाद नवीन अवस्थाका आविर्भाव, व्यय याने पुराने याने चल रही अवस्थाका विलीन हो जाना, ध्रौव्य मायने वस्तु का सत्व सदा बना रहना ये तीनों वस्तुएं अविनाभावी हैं। यदि उत्पाद नहीं है तो व्यय और ध्रौव्य भी नहीं हो सकते, यदि व्यय नहीं है तो उत्पाद और ध्रौव्य भी नहीं हो सकते, यदि ध्रौव्य नहीं है तो उत्पाद और व्यय भी नहीं हो सकते, यदि इस उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सम्बन्धित सभी प्रकारका वर्णन है और वस्तुमें रहने वाले अनेक धर्मोकी अपेक्षा उन सबका वर्णन है। इसमें पद है एक करोड़। 11 अंगोका जितना भी पद समूह है उसका जोड़ होता है 4 करोड़ और कुछ लाख। अब यहाँ देखे कि इस उत्पाद पूर्व अंगमें ही एक करोड़ पद है। दूसरा पूर्व है अग्रायणी नामपूर्व। इस पूर्वमें 700 सुनय और दुर्नयका और 6 द्रव्य, 7 तत्त्व, 9 पदार्थोका वर्णन है। नयकी संख्या मूलमें दो है— (1) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इसका विस्तार किया जाय तों बढ़ते चले जाइये। द्रव्यार्थिकनयके 3 भेद हैं— नेगम, संग्रह, व्यवहार। पर्यायार्थिकनयके चार भेद हैं— (1) ऋजुसूत्रनय, (2) शब्दनय, (3) समभिरुद्धनय और (4) एवंभूत नय। अब उनका और भी वर्णन बढ़ाते जाइये तो व्यवहारमें अब जितनेसे काम पड़ता है व करीब 150 नय है, मगर उनके और भी भेद किय जायें तो 700 नय तकका वर्णन आगममें है। पर इसके अलावा और भी जितनी विवक्षायें हैं वे सब इन 700 में ही गर्भित हैं, पर उनके ओर भी भेद बना लिए जायें तो अनगिनते नय हो सकते हैं। जितने विचार हैं, जितनी विवक्षायें हैं, अपेक्षायें हैं उतने नय हो सकते हैं। तो इस अग्रायणी नाम पूर्वमें नयोंका वर्णन है। द्रव्य, तत्त्व और पदार्थोका वर्णन है। इसमें 96 लाख पद है।

(30) वीर्यानुवादपूर्व, अस्तित्नास्तिप्रवादपूर्व व ज्ञानप्रवादपूर्वके विशय व पदगणना का निर्देश — तीसरा पूर्व है वीर्यानुवादनाम पूर्व। इसमें 6 द्रव्योकी शक्ति वीर्यका वर्णन है। द्रव्यमें क्या शक्तियाँ हैं उन शक्तियोका स्वयंमें क्या प्रभाव है यब सब वर्णन इस वीर्यानुवाद नाम पूर्वमें है। जीवकी शक्ति, पुद्गली शक्ति ये सब इस पूर्वमें बताये गए हैं। पुद्गलकी शक्तिका आजकल वैज्ञानिक लोग कितना प्रसार बना रहे हैं, यह जो अब तक बम बना पाये इससे असंख्यातगुणा प्रभाव है परमाणु में। जीवकी शक्ति, जीव यदि व्यवहारके सारे ख्याल और विकल्पोंको तजकर एक शुद्ध अविकार अपने चैतन्यस्वरूपकी

दृष्टि रखे तो उसके बल की बात बतानेको शब्द ही नहीं है, पर यह जीव कर्मविपाकवश इतना कमजोर और कायर स्वच्छंद हुआ है कि वह बाह्य पदार्थविषयक मोह रागद्वेष छोड़नेको तैयार नहीं होता। और, है ये सब व्यर्थ की बातें। कितने दिनोंका जीवन है? इतने दिनोंके लिए उन बाह्य पदार्थों में कुछ राग कर लिया तो उससे आत्माका क्या उठता है? जो विवेकी ज्ञानी पुरुष है, सम्हले है, आत्मस्वरूपको सम्हाला है उनको ही तो बातें बतायी गई है कि 64 ऋद्धियाँ प्रकट होती हैं और फिर केवलज्ञान प्रथम ऋद्धि, जिसमें लोकालोक तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थ एक साथ स्पष्ट ज्ञात हो। तो इस पूर्वमें द्रव्योकी शक्तियोंका वर्णन है। इसमें 70 लाख पद है। चौथा पूर्व है अस्तिनास्तिप्रवादनामापूर्व, इसमें अस्तिनास्तिका हर प्रकारसे वर्णन है, जैसे जीवका स्वरूप स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे तो अस्तिरूप है और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव से नास्तिरूप है, ऐसे ही अन्य जो धर्म पाये जाते हैं उन धर्मों में भी विवक्षावश अस्ति नास्तिकी बात बतायी गई है। और इस तरह अनेक धर्मोंमें विधि निषेध द्वारा सप्तभंग बताकर विरोध मिटाया गया है क्योंकि जहाँ मुख्य और गौणकी उपेक्षा कर दी जाय वहाँ विरोध नहीं होता। इस पूर्वमें 60 लाख पद है 5वाँ पूर्व है ज्ञानप्रवाद नामापूर्व, इसमें ज्ञानके भेदोंका स्वरूप बताया है। जैसे ज्ञानके 5 भेद हैं—(1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मनःपर्ययज्ञान और (5) केवलज्ञान, इनका विस्तारसे स्वरूप और इसमें भी जो अनेक भेद पड़ेऋ है उनकी अपेक्षा संख्या वहाँ बतायी गई है और उन ज्ञानोका फल क्या है? यदि मिथ्यात्व साथ हो तो उनमें से किन ज्ञानोंपर असर पड़ता है? वे खोटे बन जाते हैं, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। तो ज्ञानविषयक समस्त तथ्योंका इसमें वर्णन है, इसमें पद है 99 लाख अर्थात् एक लाख कम एक करोड़।

(31) सत्यप्रवादपूर्वके विषय व पदगणनाका निर्देश— छठवे पूर्वका नाम है सत्यप्रवादपूर्व। इसमें वचनविषयक अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। सत्य वचन कितनी तरहके होते हैं? कोई नाम सत्य है, कोई रूप सत्य है, कोई प्रमाण सत्य है। तो यह 10 प्रकारके सत्योका वर्णन है। असत्यका वर्णन जो जैसा पदार्थ है उससे उल्टा जानना, असत्यको सत्य जानना आदिक नाना प्रकारके असत्य वचनोका वर्णन है। असत्यका वर्णन जो जैसा पदार्थ है उससे उल्टा जानना, असत्यको सत्य जानना आदिक नाना प्रकारके असत्य वचनोका वर्णन है। तो वचनविषयक सब प्रवृत्तियोंका वर्णन इस प्रवादमें किया गया है, तो वचनविषयक जो वर्णन है वह इतना विशाल क्यों किया कि इस मनुष्यका धन वचन ही है। सारा व्यवहार वचनोसे चलता है। अच्छा बुरा होना वचनपर निर्भर है, और वचनो पर इस मनुष्य को बहुत ध्यान रखना चाहिए, इतना विवेक रखना चाहिए कि किसी समय कषाय विशेष भी उमड़ आये तो भी वचन बुरे न निकले, क्योंकि जो मनमें बात उमड़ी है वह जब तक भीतर ही है, बाहर नहीं प्रकट की है तब तक अपने अधिकामे सब बात है। थोड़े समय बाद मनको समझाकर उस गड़बड़ीको निकाला जा सकता है, पर वचनसे गड़बड़ी जाहिर कर दी। और उसे कष्ट हुआ तो उस दूसरेकी औरसे भी कुछ प्रतिक्रिया होगी, फिर इसकी कषाय बढ़ती जायगी। यद्यपि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जो भीतर है सो हम भीतर नहीं रखते, बाहर प्रकट कर देते हैं और इसमें वे अपनी शान समझते हैं, मगर उनकी यह कमजोरी है कि भीतरकी बातको भीतर ही रखकर दूसरे समयमें उस बातको नष्ट कर देना, यह बल उनके अन्दर नहीं है और वह उस भीतरकी कषायके वेगमें बाहरी वचनो द्वारा उगल ही बैठता है कि किया तो यह गलत काम मगर लोगोपर छाप डालनेके लिए कि भाई हम तो बिल्कुल साफ हैं, जो मनमें होता है सो वचनसे कह देते हैं। खैर मायाचारकी बात तो न रखना चाहिए कि दूसरे के अहितके लिए जो मनमें विचारा है अथवा जो कुछ कायसे करनेका इरादा किया है तो वचनो से अन्य तरह कहे, यह बात तो

न होनी चाहिए। कहना यह तो सही रहेगा ताकि वह थोड़े समयमें अपने भाव बदलकर स्वच्छ हो जाय, पर उल्टा न कहना चाहिए। तो इन वचनविषयक सभी तथ्योंका वर्णन इस सत्यप्रवाद नामके पूर्वमें किया गया है। इससे पद है 1 करोड़ 6। इस तर परिकर्मके 5 भेदों में से चौथा भेद जो पूर्वगत है उसमें 5 पूर्वोंका अभी वर्णन हुआ।

(32) आत्मप्रवादपूर्वमें नयप्रमाणसम्मत आत्मतत्त्वका वर्णन— यह समस्त आगम अरंहत भगवाकी दिव्यध्वनिके मूलसे निकला है और गणधरदेवने इसे गूँथा है। जो गणधरदेवने गूँथा वह उन्हीके द्वारा ही बोला जा सकता है। अथवा जो और ऋद्धिधारी मुनीश्वर है, जो श्रुतकेवलीसे परिचय है उनके द्वारा ही बोला जा सकता है। उस परम्परासे कुछ विषयोको आगममें बाँधा है और शास्त्र रूपसे रचा गया है। तो मूल जो आगम है जिसे गणधरदेवने गूँथा है उसकी चर्चा चल रही है। 11 अंग और 12वें अंगके पूर्वगत भेदोंमें 6 पूर्वोंका वर्णन कल किया था। 7वें पूर्वका नाम है आत्मप्रवादनामा पूर्व। इस पूर्वमें आत्माका वर्णन है। आत्मा कर्ता है अथवा नहीं, भोक्ता है अथवा नहीं, ऐसे अनेक धर्मोंका निश्चय व्यवहारकी अपेक्षा वर्णन है। निश्चय देखता है एक ही पदार्थको, व्यवहार निरखता है भेदको, पर्यायको, घटनाको, सम्बन्धको। सम्बन्ध कही असत्य नहीं है। कोई कहे कि जीवका और कर्मका सम्बन्ध है, बन्धन है यह व्यवहारनयसे जाना गया है इसलिए झूठ है, जीवके साथ कर्म बँधे नहीं है क्या? बँधे है अन्यथा यह संसार अवस्था कैसे होती? तो सम्बन्ध है वह झूठ नहीं है। लेकिन एक द्रव्यको जब निरखते हैं तो बन्धन दिखता नहीं है। एक द्रव्यको निरखनेका नाम है निश्चयनय, तो निश्चयनयसे जब देखते हैं तो दूसरा जब दिख ही नहीं रहा है तो बन्धन कैसे कहा जाय? जैसे कोई एक ही फोटो देख रहा है हाथकी, तो इसके मायने यह नहीं है कि दूसरा फोटो है ही नहीं, मगर वह एक ही फोटोको देख रहा है, वहीउसके ज्ञानमें है, ऐसे ही निश्चयनय केवल एक द्रव्यको ही देखता है, अन्य द्रव्यको नहीं देखता है। यह उसकी एक कला है, और इसमें लाभ भी है कुछ मगर केवल एक अपने आत्मद्रव्यको ही देखें, अन्य कुछ न देखें तो इसके ज्ञानमें यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही रूचेगा, और इस विशुद्ध उपयोगके कारण कर्मोंका क्षय होगा। जहाँ हम अनेक द्रव्योंपर दृष्टि डालते हैं तो विकल्प होते, व्यग्रता होती है, तो निश्चयनयसे निरखनेमें लाभ है मगर कोई व्यवहारनयको झूठ कहकर व्यवहारनयका निषेध करके निश्चयनयके विषयको ही माने तो वह मिथ्यात्व है। तो निश्चय और व्यवहारका उस निश्चय व्यवहारकी अपेक्षा से अनेक धर्मोंका वर्णन आत्माके बारेमें आत्मप्रवादपूर्व में है।

(33) निश्चय व्यवहारनयसे अनेक धर्मोंका आत्मप्रवादपूर्वमें वर्णन — जैसे कर्तृव्य का निर्णय करे, आत्मा कर्ता है या नहीं, तो आत्मा कर्मका कर्ता है, परका कर्ता है, यह बात व्यवहारनयसे कही गई है। व्यवहारनयके मायने सम्बन्ध बताना। जीवका और कर्मका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है उस दृष्टिसे बताया गया है कि जीव कर्मका कर्ता है। उसका अर्थ निश्चयदृष्टि से न लगाना, किन्तु व्यवहारनयसे कहा है तो व्यवहारदृष्टिसे ही अर्थात् निमित्त नैमित्तिक भावकी दृष्टि करके ही समझना कि जीव पुद्गलकर्मका कर्ता है, जिसका अर्थ यह होता है कि जीवके राग द्वेषादिक भावोंका निमित्त पाकर पुद्गलकर्मका बंध होता है और निश्चयसे देखे तो जीव पुद्गलकर्मका तो कर्ता नहीं है, पर अपने ज्ञान भावका कर्ता है। शुद्धनयसे देखा गया तो जीव अपने भावोंका कर्ता है इतनी भी बात नहीं रहती। वहाँ तो केवल एक अखण्ड तत्व ही ज्ञानपे आता है। यह विकल्प नहीं चलता वहाँ कि जीव अपने भावोंका कर्ता है। इसी प्रकार भोक्ताकी बात समझिये। जीव भोजन आदिकको भोगता है यह कथन तो व्यवहारनयसे भी नहीं उपचारसे है। जैसे कोई कहे कि

जीव मकानको करता है तोव ह उपचारसे है ऐसे ही जीव इन बाहरी पदार्थों को भोगता है, यह कथन उपचारसे है। और पुद्गलकर्मको भोगता है यह कथन व्यवहारनयसे है, क्योंकि पुद्गलकर्मका उदय आया, पुद्गलकर्ममें ही अनुभाग बना और उसका प्रतिफलन आत्मामें हुआ तो जीव अपने ज्ञान परिणामको भोगता है। चाहे वह किसी विषय कषायमें भी हो उसको भी भोगना कहेंगे। तो अपने ही आत्माको भोगता है यह तो निश्चयनसे कहा गया और पुद्गल कर्मको भोगता है यह व्यवहारनयसे कहा गया। भोजन आदिक पदार्थोंको भोगता है यह उपचारसे कहा गया। शुद्धनयकी दृष्टिमें यह भोक्ता ही नहीं है क्योंकि वह निश्चयनयके विकल्पको भी स्वीकार नहीं करता। तो ऐसे नय विवरणके साथ आत्माके बारेमें वर्णन किया गया है आत्मप्रवाद पूर्वमें। इसमें पद 26 करोड़ है। आत्माकी बात जानना कितना मुख्य है और आत्माके बारेमें कितना विशेष वर्णन है कि इसके पद सभीसे अधिक है। 26 करोड़ पद अभी तक किसीके नहीं आये।

(34) कर्मप्रवाद पूर्वमें कर्मविशयक तथ्योंका वर्णन — 8वाँ है कर्मप्रवाद पूर्वमें कर्मोंके बारेमें वर्णन है, कर्म कोई कहने मात्रकी चीज नहीं है जैसे कि कर्म के सम्बन्ध में लोगोको भ्रम है। कोई कहता है कि जो किया सो कर्म है। जो भाव किया सो कर्म है, पर कर्मपुद्गल परमाणुओंका पिण्ड है। जैसे एक पुद्गल स्कन्ध स्थूल है, आँखोंसे देखते हैं पर कर्ममें पुद्गल भी स्कन्ध है, अनंत परमाणुओंके पिण्ड है, किन्तु इतने सूक्ष्म है कि वे आँखोंसे भी नहीं दिख सकते और वे वज्रसे भी नहीं छिड़ सकते। वे कामार्ण वर्गणाये इस जीवके साथ कर्मरूपसे बंध जाती है और उसमें निमित्त कारण है जीव का अज्ञानभाव। जीवके रागद्वेष मोहका निमित्त पाकर ये कामार्ण वर्गणाये कर्मरूप बंध जाती है। इस संसारमें रहकर मौजसे रहना, स्वच्छंद रहना यह विवेकी का कर्तव्य नहीं है। इस जीवके साथ विपत्ति तो लगी ही हुई है। कर्म बंधे हैं, उनका उदय आता है। बाहरी पदार्थोंमें क्या मौज मानते? आज किसी बाहरी पदार्थमें मौजमाना, मान लो, पर उससे जो पाप कर्मका बंध होगा उसका भी तो उदय आयगा फिर कष्ट पायगा। यो संसारमें रूलता रहेगा। आत्माके लिए सिवाय एक अपने आत्मस्वरूपके कोई भी सार तत्व नहीं है। अपना आत्मा अपनी दृष्टिमें रहे, बस यह ही मात्र अपने लिये सारभूत बात है। तो यह कर्मप्रवाद पूर्वमें ज्ञानावरणदिक 8 कर्मोंका वर्णनकिया। उनका बंध उदय सत्व बताया है। किस गुणस्थान तक किसका बंध होता है किस गुणस्थान तक किस प्रकृतिका उदय है, किस गुणस्थान तक किस प्रकृतिका सत्व है, यह सब वर्णन कर्मप्रवाद पूर्वमें है।

(35) आत्महितके अभिलाशीको जीव और कर्मके तथ्यको जाननेकी अनिवार्यता— जीवका श्रद्धान और कर्मका श्रद्धान ये दोनो बातें आत्महित चाहने वालोंके लिए अवश्य जानने योग्य है। कोई पुरुष लुक-छिप करके कोई अनुचित कार्य करें और ऐसा विश्वास रखे कि मुझे कोई नहीं देखता। मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं। देखनेसे बिगाड़ नहीं होता ओर देखनेकी भी बात परखे तो यहाँ तो कोई दो चार आदमी देखने वाले हैं मगर इस अशुद्धता को तो अनन्तें सिद्ध भगवान देख रहे। तुम यहाँ दो एक की भी बात क्या कहते हो? पर बिगाड़ अनन्ते सिद्ध भगवान देख रहे इससे भी नहीं और यहाँके मायामय दो चार पुरुष देखले किसी को पाप करते हुए, उससे भी बिगाड़ नहीं, बिगाड़ तो यह है कि जैसे ही इसके भाव खोटे हुए वैसे ही तुरन्त उसी समय अनन्त कामार्ण वर्गणाये कर्मरूपसे बंध गई। यह है बिगाड़, यह है विपत्ति। बाहरमें कुछ विपत्ति नहीं। विपत्ति तो असलमें वह है जिसके कारणसे जीवमें कषायें जगती हैं। ये कषायें इस भगवान आत्मको हिला देती हैं, भव-भवमें भटकाती हैं। तो सदा सावधान रहना चाहिए। चाहे जंगलमें हो,

चाहे एकान्तमें हो, चाहे किसी जगह हो, जिस कालमें जीव अपने आपमें कषाय भाव बनायगा उस ही कालमें कर्मका बंध होता है। कोई देखे या न देखे, इससे कुछ प्रयोजन नहीं, यह तो एक निमित्त नैमित्तिक भाव है कि जीव कषाय करें तो कर्मबंध होगा। उसका उदय आता है तब दुःख आता है।

(36) ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्मके विपाकोदयकी रीति— कर्मोका उदय अनेक ढंगों से आता है याने कर्मोदयका फल अनेक ढंगों से मिला। जैसे ज्ञानावरण कर्मका उदय आया तो ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता। वहाँ क्या बात है, कैसी कला है, इसको अधिक वचनो से कोई ब्योरा नहीं दे सकता, मगर ज्ञानावरण कर्मका उदय होवे तो उनका ज्ञानगुण प्रकट नहीं होता, ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है। दर्शनावरण कर्मका उदय होने पर दर्शनगुण प्रकट नहीं होता। इन दोनोंमें ही यह बात तो जानियेगा ही कि जो ज्ञानावरणका उदय है, दर्शनावरणका उदय है, घातिया कर्मका जिसका भी उदय है वह सब आत्मामें प्रतिफलित होता है, छा जाता है और ज्ञानस्वभाव उससे ढक जाता है। प्रतिबिम्बसे ढक गया, अब उस दर्पणमें स्वच्छता झलक नहीं रही। शक्तिमें स्वच्छता पड़ी है। भीतर स्वभावमें स्वच्छता ज्यों की त्यों हे। मगर दशा देखें तो सारा दर्पण फोटोसे रंगा हुआ है। स्वभाव अब भी नहीं मिटा।

(37) कर्माक्रान्त होनेपर भी ज्ञानस्वभावकी सतत सम अन्तःप्रकाशमानता— जैसे दर्पणका स्वभाव मिट गया हो तो फोटो आ ही न सकता था। कही भीत आदिक पर तो फोटो नहीं आती। दर्पणमें ही प्रतिबिम्ब आता है। स्वभाव नहीं मिटा कही। जब फोटो आ रही है उस वक्त भी स्वभाव अंतःप्रकाशमान है— उस काँचका, नहीं तो फोटो समाप्त हो जाय, ऐसे ही जिस कालमें कर्मोका उदय है उन कर्मोके उदयसे फोटो प्रतिबिम्ब प्रतिफलन आकार आ गया, छा गया वह सब कर्मरस। अब उस कर्मरसके छा जाने पर आत्मा के गुण स्वभाव प्रकट नहीं होता। ढक गया। यहाँ इतनी बात है कि ढक जाने पर भी कोई न कोई अंश में थोड़ा बहुत ज्ञान प्रकाश हर एकके रहता है। तो ढक गया ज्ञानस्वभाव मगर ज्ञानस्वभाव अंतः प्रकाशमान है जीवमें। अगर जीवमें, ज्ञानस्वभाव मिट जाये तो वह कर्म भी प्रतिफलित नहीं हो सकता। कहाँ फोटो आये, कहाँ कर्मरस झलकेगा? जैसे किसी जीवको रागद्वेष करता हुआ निरखकर झट समझ लेते हैं कि इसमें चेतना है। अगर चेतना न होती तो रागद्वेष भी यह कैसे कर पाता? तो कर्मोदय एकदम आक्रान्त हो जाय तो भी आत्माका ज्ञानस्वभाव अलग नहीं होता, सतत, अंतःप्रकाशमान है। जैसे कितनी ही फोटुओसे प्रमिफलित हो जाय दर्पण, तो भी दर्पण में स्वच्छता निरन्तर अन्तःप्रकाशमान है। वहाँ इतना भी नहीं है। कि वह एक समयको दर्पणमें स्वच्छता न रहे फिर आ जाय। एक समयको न रहे तो कभी न रहा, तो ऐसे इस ज्ञानस्वभावका आवरण करने वाले इस चैतन्य विकासका आवरण करने वाले ये सब कर्म है।

(38) वेदनीयकर्मके विपाकोदयकी रीति— वेदनीयका उदय आता है तो उसकी एक कला है उदयकी, ऐसी निमित्त नैमित्तिक योग है कि साताका उदय होने पर जिन बाह्य पदार्थोको पाकर यह जीव साताका विकल्प करे, ऐसी चीज अपने आप मिल जाती है। आ जाती है। जगतमें जीव तो सब एक समान है किन्तु यह अन्तर किस बातका आया कि कोई श्रीमान है और कोई दरिद्र है, यह सब साता असाताके उदयका अन्तर है। वेदनीय कर्मके उदयके दोमुखी काम है। इष्ट अनिष्ट पदार्थोका संग मिल जाना और इन्द्रियके द्वारा सुख और दुःखका वेदन कराना। वेदनीय कर्म इस प्रकारसे अपना फल हाजिर करते हैं।

मोहनीय कर्म यह सब कर्मोंका राजा है। अगर मोहनीय उदय में नहीं आ रहे तो सब तरहके कर्म उदयमें आयें तो भी जीवका कुछ बिगाड़ नहीं, पर ऐसा है कहाँ?

(39) मोहनीय व आयु कर्मके विपाकोदयकी रीति— मोहनीय कर्मका उदय है जिन संसारियोंके तो क्या होता है कि इसका नाच हूबहू दो जगह चल रहा है। कर्ममें तो कर्मके अनुभागका नाच चल रहा और उसका फोटो अक्स ज्ञेय जीवमें आ रहा। यह भी नाच चल रहा और इस नाचमें तो यह जीव अज्ञानी बनकर अपनी सुध भूलकर यह बाह्य पदार्थों में लग जाता है और दुःखी रहता है। तो मोहनीय कर्मका उदय इस तरह दिखता है जैसे कि कर्म तो नाच रहा है और यह जीव समझ रहा कि मैं नाच रहा, ऐसा ही अज्ञान बसा हुआ है। तो इस मोहनीयका भी बंध कहाँ तक है? सत्व कहाँ तक है। और किस—किस प्रकारसे है, यह बहुत बड़ा भारी वर्णन है। आयुकर्म इसके उदयका फल देनेका ढंग ही और है। जब तक आयुकर्मका उदय चल रहा है तब तक जीव उस शरीर में ठहरा रहता है। उसका उदय समाप्त हो जाय किसी भी ढंगसे अपने समयपर या कोई आकस्मिक घटना होने पर जीव फिर शरीर में नहीं रह पाता। फिर जिस आयुका उदय होगा उस शरीरमें जाकर पैदा हो जाता। यह जीवका ऐसा बंधन है।

(40) नामकर्मके विपाकोदयकी रीति— नामकर्मके उदयमें नाना प्रकार शरीरोंकी रचना हो जाती है। समयसारमें बताया है कि एकेन्द्रिय आदिक, वादर सूक्ष्मादिक पर्याप्त आदिक ये सब नामकर्मसे रचे गए हैं। नामकर्मके उदयका निमित्त पाकर यह शरीर स्कंध बन जाता है, यह भी तथ्य है मगर इन शब्दोंमें न कहकर इन शब्दोंमें कहा गया है कि ऐसी ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ हैं उनके द्वारा यह शरीर रचा गया है। इसमें कुछ ऐसा लगता है कि नामकर्मकी जिन प्रकृतियोंका उदय होता है वे प्रकृतियाँ कुछ काल शरीर वर्गणओ के साथ मिलकर उस रचावमें आता है और इसके शरीर वर्गणाओके परमाणु तो स्थिरतया रहते हैं। जब तक कि शरीर है और वे नामकर्मकी प्रकृतियाँ सूख जाती, उड़ जाती। कुछ क्षण को ऐसा स्पर्श होता होगा कि उदयसे च्युत होकर कुछ क्षणको स्पर्श करके फिर वे विघटती हैं। उदय होनेके बाद एक क्षण भी नामकर्मकी प्रकृति नामकर्म नहीं कहलाती। उदय हो चुका और उसका निमित्त पाकर शरीरकी रचना बन रही, मगर कुछ स्पर्श उनका रहता है तब ही तो बड़े जोरपूर्वक ऐसा कहा गया है कि ये सब नामकर्मके द्वारा रचे गए हैं। लोकमें ऐसा देखा जाता कि घड़ा तो बनता है मिट्टी का, पानीका नहीं बनता, मगर कुछ समय उसके साथ पानी मिला हो तो घड़ा बन पाता है। घड़ा बननेके बाद पानी सूख जाता है। उसमें पानीका अंशभी नहीं रहता। मगर प्रारम्भमें उस पानीका सम्पर्क होनेसे मिट्टी अपनेमें घड़ेका रूप रख पाती है। फिर पानी सूख गया। तो यद्यपि घड़ा मिट्टीसे ही बना, पानीसे नहीं बना, मगर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि पानीका कुछ सम्पर्क हो तो घड़ा बननेका काम बने। नामकर्मके द्वारा रचा गया है यह शरीर। इस शब्द से ऐसा सम्भव हो सकता है कि उदय होकर यह कर्मप्रकृति तो नहीं रहती, मगर कुछ काल यदि अल्पकालमें उन शरीर वर्गणाओसे स्पर्श करे, फिर यहाँ से भी हट गया। इस तरह नामकर्मका विपाक चलता है।

(41) गोत्र एवं अन्तरायकर्मके विपाकोदयकी रीति व कर्मप्रवादके पदगणनाका निर्देश— गोत्र नामका विपाक—इसके उदयका निमित्त पाकर जीवमें यह व्यवहार बना कि यह उच्च कुलमें पैदा हुआ, यह नीच कुलमें पैदा हुआ। इस तरह गोत्रकर्मका उदय चला, और अन्तराय कर्मका उदय होनेपर यह जीव दान लाभ भोग उपभोग शक्तिविकास आदिक नहीं कर पाता। दान देनेके भाव होकर भी दान नहीं दे सकता। दातार सोच ले कि देना है

दान, फिर भी दान देते समय रूक जाता है, दान वापिस आ जाता है, यह है दानान्तरायके उदयका फल। कितने ही लोग ऐसे हैं कि जो यह कहते हुए पाये गए कि भाई मैं अपने हाथ से तो नहीं दे सकता, मगर आप लोग जबरदस्ती उठाकर ले जावो। ऐसा अपने आप मुखसे बोलते हैं। यह क्या है? यह दानान्तराय कर्मका विपाक है। ऐसे ही लाभ भोग उपभोग वीर्य, ये भी प्रकट नहीं हो पाते, ये अन्तरायके विपाक हैं। तो ऐसे कर्मके विपाक बंध सत्व, इनका वर्णन अनेक विधियोंसे इस कर्मप्रवाद पूर्वमें किया गया है। इसमें पद है 1 करोड़ 80 लाख।

(42) प्रत्याख्यांनपूर्वके विशय व पदगणनाका निर्देश— गणधरदेवके द्वारा लिखे गए 12 अङ्गोंमें यह 12वें अंगका प्रकरण चल रहा है। दृष्टिवाद अङ्गके 5 अधिकार हैं। परिकर्म, प्रथमानुयोग सूत्र, पूर्वगत और चूलिका, जिनमें पूर्वगतका वर्णन चल रहा है। पूर्व 14 होते हैं, जिनमें 8 पूर्वोका वर्णन हो चुका। 9वाँ पूर्व है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यानका अर्थ है त्याग। प्रत्याख्यानावरण प्रधान बने, प्रत्याख्यानका आवरण करे उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं। प्रत्याख्यान मायने पापका त्याग। पापोंके त्यागका अनेक प्रकारसे वर्णन है। पाप कितने होते हैं, इनकी कोई संख्या नियत नहीं है। पाप तीन होते हैं— (1) मनसे किए हुए, (2) वचनसे किए हुए, (3) कायसे किए हुए। पाप 9 होते हैं— (1) मनसे किए हुए, (2) मनसे कराये गए और (3) मनसे अनुमोदे, गए? (4) वचनसे किए हुए, (5) वचनसे कराये हुए और (6) वचनसे अनुमोदे हुए, (7) कायसे किए गए, (8) कायसे कराये गए और (9) कायसे अनुमोदे गए। पाप 27 होते हैं—इन 9 से संकल्प किए गए, इन 9 से पापके साधनों को जोड़ा गया और इन 9 से पापका प्रारम्भ कर दिया यों $9 \times 3 = 27$ पाप होते हैं। पाप 108 होते हैं—ये 27 पाप क्रोधमें बन रहे हो, मानसे बन रहे हो, मायाचारसे बन रहे हों और लोभसे बन रहे हो, ऐसे ये 108 प्रकारके पाप हैं। इनका और भी विस्तार हो सकता है। तो इन अनेक प्रकारके पापोंको अनेक विधियोंसे त्याग करनेका वर्णन इस 9 वें प्रत्याख्यानपूर्वमें है। पापके त्यागकी विधि क्या है? तो विधि तो एक ही है। अपने सहज अविकार चैतन्यस्वरूपमें अपने सत्वका अनुभव करना—मैं यह हूँ। एक ही विधि है पापोंके त्यागकी। पर यह बात जिनसे न बन सके उनके लिए अनेक विधियाँ हैं व्रत करें, नियम दें, तप करे। अमुक संयमसे रहें, उनके लिए अनेक विधान हैं। पर उन सब विधियोंमें यदि इस प्रधान विधानकी सुध है तो मोक्षमार्ग चल रहा, और अगर इस प्रधान विधिकी सुध नहीं है अविकार आत्मस्वरूपकी सुध नहीं है तो वह कुछ पुण्यबंध कर लेता है मगर मोक्षमार्ग नहीं मिलता। इस प्रत्याख्यान पूर्वमें 84 लाख पद है।

(43) विद्यानुवादपूर्वमें विद्यासाधनों का विषय— 10वाँ पूर्व है विद्यानुवाद। इस पूर्वमें 700 छोटी विद्याओ और 500 बड़ी विद्याओका स्वरूप बताया गया है। इन विद्याओ की साधना किस तरह होती है। और इनका यंत्र क्या है और सिद्धि हुए बाद इसका फल क्या मिलता है? यह सब वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमें है और अष्टांग धर्मका वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमें है। कौनसी घटना देखकर गए उसका फल है, यह सब वर्णन विद्यानुवाद पूर्वमें है। जो मुनि इस विद्यानुवाद पूर्वकी सिद्धि कर लेता है और आनन्द जगता है वह मुनि 10 पूर्व विद कहलाता है, यह एक ऋद्धि होती है। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव 9वें पूर्व तक ही क्यों रहते हैं, है वे मुनि ऊँचे। उनका तपश्चरण अच्छा, ज्ञान भी बहुत, साधना अच्छी, पर कुछ मिथ्यात्वका अंश रह गया है जिसके कारण वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे मुनि 9वें पूर्व तक ही क्यों रहते? आगे बढ़ते तो हैं और विद्यानुवादकी साधना भी करते हैं, पर किसी को सिद्ध नहीं होता और किसीको कुछ थोड़ा थोड़ा सिद्धसा होने लगता है, तो वे विद्याये

आती है और अपना सुन्दर रूप दिखाती है और उनकी आज्ञा मानती है। आपका जो हुकुम हो सो करे, उस समय वे अपने परिमाणसे डिग जाते हैं, चिग जाते हैं वे आगे बढ़ नहीं सकते। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनि है, वे अनेक विद्याये भी आये, बड़ा निवेदन करें कि जो चाहो सो हम काम करे, लेकिन वे कुछ भी फल नहीं चाहते इसलिए वे साधु और भी आगे बढ़ते हैं। वे ज्ञानी है।

(44) धर्मसाधनाके फलमें लौकिक सुख चाहनेकी महापराधरूपता— भैया, धर्मसाधना करके कोई फल चाहना यह एक बहुत बड़ी तुच्छता है, मित्यात्व है। चाहनेका तो मनुष्य कीड़ा बन रहा है। जब चाहे जिस चीजकी चाह कर बैठता है, पर किसी चीजकी चाह करना एक महान् अपराध है। वैसे घर गृहस्थीके बीच रहकर किसी चीज की चाह करना उतना बड़ा अपराध नहीं माना गया, पर धर्म करनेके एवज में सांसारिक फलकी चाह करना यह भारी अपराध है। कोई अगर यह माने कि अमुक तीर्थसे जानेसे यह फल मिलेगा तो यह इसका कोरा भ्रम है। कोई भी तीर्थस्थान किसीको कुछ सांसारिक फल नहीं देता, मानो कोई मानता है कि महावीरजी जानेसे धन मिलगा तो उसका यह ख्याल मिथ्या है। क्योंकि जिन देशोंमें मान्यता नहीं है। महावीरजी की जैसे अमेरिका, इंग्लैण्ड, रूस आदि, वहाँ पर भी तो एकसे एक बड़े धनिक देखे जाते। अरे जिसे जितना जो कुछ धन वैभव मिला वह सब पूर्व पुण्य प्रतापसे मिला, अब उसकी कुछ आशा करके, उसकी इच्छा रखकर जो पाप कमाये जा रहे हैं उसके फलमें दुर्गतियोंमें जन्म मरण करना होगा। मान लो धर्म करने के एवजमें किसीको अच्छा फल मिल गया तो कहीं चाहनेसे नहीं मिला। वह सब पूर्वकृत पुण्यका फल है। आत्मसाधना तो निरीह भावसे करनी चाहिए। किसी प्रकार की वाञ्छा नहीं, बस प्रभुका (वीतराग सर्वज्ञदेवका) स्वरूप चिन्तन चल रहा है। जगतमें कही सार नहीं है सो प्रभु जगतके अणु अणुको त्यागकर अपने आत्मामें लीन हुए हैं, और ऐसा जो ध्यान करेगा वह क्या लोककी इच्छा करेगा? वह भी उसी ढंगसे चलेगा। तो धर्मधारण करके जो फल प्राप्त हुआ है पूर्व पुण्यसे उसको यों मानना कि इस धर्मके कारण हुआ है, यह धर्मकी महिमा को घटा देता है। धर्मका फल तो इससे ऊँचा है। यह तो बाह्य भिन्न वैभवो का संयाग मिल गया है, उससे जीवका क्या बनता है?

(45) तृष्णारहित होकर धर्मसाधनामें निराकुलता योग्य— जो विवेकी जन है उनमें एक यह गुण हाता है कि वे तृष्णा नहीं करते। परिग्रहके संग्रहमें लम्पटता नहीं रखते। कर्तव्य करना है तो कर्तव्य करने के नाते से जो कुछ सुगमतासे बन जाये उसमें ही वे पुसन्न रहते हैं। यह गुण ज्ञानी पुरुषमें होता है जिसके कारण गृहस्थीमें रहकर भी वे अनाकुल रहते हैं। चिन्ता क्या है? कार्य करते—करते भी यदि नुकसान चल रहा है या कुछ बिगड़ गया है तो यों समझो कि परिवारमें रहने वाले लोगोका भाग्य अच्छा नहीं है इसलिए नहीं धनार्जन हो रहा। आपका भाग्य उसमें खोटा नहीं, क्योंकि खुद तो ज्ञानमात्र है, अकेले है। अपने स्वरूपमें रहे, रमें, इसमें तो जिनके भाग्य में कमी आयी उनका भाग्य खोटा है और वे परजीव है। उन्हें हम कुछ कर नहीं सकते। कितने ही चिन्तन है ऐसे जो इसको अनाकुल रखते हैं।

(46) विद्यानुवाद पूर्वके विशयका उपसंहार व पदगणनाका निर्देश— विद्यानुवाद पूर्वमें विद्या सिद्ध होती है औरवह हुक्म चाहती ह। भला हजार बारह सौ जहाँ विद्याये सिद्ध हो जायें और वे आकर हर प्रकारसे आत्मसमर्पण करें कि आप आजसे हमारे मालिक है, जो आप चाहे सो कर लीजिए, इस बातमें जो चिग गया वह संसारमें गया और

वहाँ जो नहीं चिगता, एक अपने आत्माका ही ध्यान अभीष्ट है वह संसारसे पार हो जाता है। इस विद्यानुवाद पूर्वमें 9 करोड़ 10 लाख पद है।

(47) कल्याणवाद पूर्वमें गर्भकल्याणसम्बन्धित विषयोंका प्रदिपादन— 11वें पदका नाम है कल्याणवाद। इसमें कल्याणका वर्णन है। जो मंगल है, भली-भली बातें हैं उन सबका प्रतिपादन है। तीर्थकरके गर्भकल्याणका आदिकका चक्रवर्तिके यथोचित उत्सवोंका तीर्थकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत सोलह भावनाओका यह सब विशेषतया वर्णन है। तीर्थकर के पंचकल्याणक होते हैं। इतना उनके विशिष्ट पुण्य है कि गर्भमें वे नहीं आये अभी। इस समय या तो स्वर्गादिकमें है या नरकमें है। गर्भमें नहीं आये अभी, पर गर्भमें आनेसे 6 महीने पहलेसे ही रत्नवर्षा होती है। पंचकल्याणक वाले तीर्थकर या तो नरकसे आकर जन्म लेते हैं या स्वर्गसे आकर जन्म लेते हैं। जिनका पंचकल्याणका होता है वे तीर्थकर मनुष्यभव से नहीं पहुँचते और तिर्यज भवसे भी नहीं पहुँचते। तो जो नरकसे आकर तीर्थकर होते हैं तो उनको आयुसमाप्तिसे 6 महीने पहले देव जाकर उनके चारों ओर कोट बनाते हैं। कोई नारकी वहाँ न पहुँचे, इसकी सारी व्यवस्था रहती है, कोई इन्हे पीटे मारे नहीं, इससे पहले तो पिट रहे थे, पीट भी रहे थे, मगर जबसे गर्भकल्याणक मनाया जा रहा तबसे उनकी सेवा के लिए देव पहुँचते हैं। 6 महीना वे बाहरी उपद्रवसे दूर रहते हैं, नहीं तो यह बड़ी विडम्बना बने। अगर देव वहाँ न पहुँचे और नारकियोसे, कोट वगैरहसे रक्षा न करें तो यहाँ तो बरस रहे रत्न और वहाँ वे पिट रहे, जिसका गर्भकल्याणक मनाया जा रहा वह जीव पिट रहा तो यह कोई तुक तो नहीं मिला। तो 6 महीना पहलेसे रत्नवर्षा होती है और 6 महीना आयु जब रह गई नारकीकी, जिसको तीर्थकर बनना है, उसकी देव रक्षा करते हैं और जो स्वर्गसे और ऊपरके ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर आदि विमानोसे उतरकर जन्म लेते हैं.....। फिर गर्भसे 6 महीना पहलेसे गर्भकल्याणक मनाया जाता है। 15 महीने तक उत्सव समारोह मनाया जाता है। यहाँ मनुष्योमें तो ज्यादाहसे ज्यादा कोई 7 महीनेसे गर्भमें हो तब समारोह मनाते हैं, कुछ लेन-देन करते, भेजते, पर तीर्थकर प्रभुका गर्भसे पहले ही समारोह मनाते हैं। देवियाँ आकर सेवा करती हैं, 6 बड़ी देवियाँ, 56 कुमारियाँ जिनकी सेवा करती हैं।

(48) कल्याणवादपूर्वमें जन्मादि कल्याणसम्बन्धित विषयोका निर्देश— जन्म कल्याणकमें बहुत बड़ा समारोह इन्द्र देव अपनी पूरी ताकत लगाकर उस समय समारोह मनाता है। तपकल्याणकमें भी बड़ा वैराग्ययमय समारोह मनाते, सबके भाव भीग जाते हैं। देव और इन्द्रके भी भाव भीगने लगते हैं। उनके साथ अनेक महाराज दीक्षा ले लेते हैं। थोडा ऐसा सोचना तो चाहिए कि हम कितने बुद्धिमान हैं, पहले हमसे भी बड़े-बड़े बुद्धिमान धनी राजा पुरुष भरी जवानीमें सर्व कुछ वैभव त्यागकर धर्मसाधना करते थे, तो कुछ सार तो समझा था उन्होंने धर्ममें और बाहरी वैभवोको असार और हेय तो समझा था उन्होंने। यहाँ असार और हेय न समझे तो कमसे कम इतना तो करे कि उसकी अधिक तृष्णा तो न रखे। अधिक तृष्णा रखने से लाभ भी कुछ नहीं। कर्तव्य है गृहस्थीमें कि धर्म, अर्थ और कामका समान साधन करे। तो तपकल्याणका, ज्ञानकल्याणक। जब प्रभुको केवलज्ञान हो जाता है इस समयकी खुशियाँ भी बड़ी विचित्र होती हैं। प्रभु बन गए, वीतराग सर्वज्ञ अरहंत सकल परमात्मा, इनका दर्शन मिलना एक बहुत ऊँचे भाग्यकी बात है, फिर दिव्यध्वनि सुननेके आनन्दका तो कुछ कहना ही क्या है? बड़ा समारोह मनाते हैं। समवशरणकी रचना होती है। मोक्षकल्याणकके समय यह भी एक उत्कृष्ट दृश्य है। उस समय बात तो खुशीकी हुई कि भगवान सदाके लिए मोक्ष गए, मगर कितने ही लोग बड़ा

विषाद भी मानते होंगे। हमें रोज-रोज मिलते थे, दर्शन होते थे, अब यह सदाके लिए गए। आखिर कुछ प्रीति तो हो ही जाती है। तो उस वक्त खेद करने वाले भी बहुतसे लोग होंगे और जो उनके माता-पिता वगैरह कोई हो या उनके प्रधान शिष्य हो उनको तो बड़ी विरक्ति भी और खेद भी होता है। मगर मोक्षकल्याणकसे बढ़कर और खुशीका कोई काम नहीं है। सदाके लिए सर्व संकटों से छूट गया और अपने आपके अनन्त आनन्दमें वह लीन हो गया। पूर्व पवित्रता आ गई, अब रंच भी चिगना नहीं होता। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्यकी तरह निष्क्रिय, निश्चल, निस्तरंग, बस एक ज्ञानज्योति, सारा लोकालोक ज्ञानमें आ रहा, पर फोकट। किन्तु जानते भगवान सबको। उन्हें भी क्या लाभ और हमें भी क्या लाभ? उनके बजाय हम आप जानतें होते तो कितने ही काम कर डालते। पर जो काम करनेकी धुन रखते हैं उन्हें ज्ञान नहीं होता और जो सर्व कार्यासे विराम लेते हैं उनको ज्ञान बढ़ता है। कृतकृत्य है, सब कुछ ज्ञानमें आ रहा, मगर रंच भी खेद नहीं, रंच भी हर्ष नहीं। तो ऐसे कल्याणकका वर्णन इस 11वें पूर्व में है।

(49) कल्याणवादपूर्वमें तीर्थकरप्रकृतिबंधके कारणभूत शोडश भावनाओंका वर्णन व पदगणनाका निर्देश- उस तीर्थकर प्रकृतिके बंधके कारणभूत 16 भावना व सम्यग्दर्शन है और सर्व जीवोंके प्रति सद्भाव बनता है कि सब दुःखी है, केवल एक अपना ज्ञान न होने से। इन सबको ज्ञान प्रकट हो और इन सबका खेद दूर हो, ऐसी बड़ी कृपाकी भावना होती है। उनमें विनय सम्पन्नताका मुख्य गुण है। कबसे बात कर रहे हैं? तीर्थकर होनेससे पहले भवकी बात, जिस भवमें तीर्थकर प्रकृति बंध गई, श्रावक हो वह भी तीर्थकर प्रकृति बांध सकता, मुनि हो वह भी बाँध सकता, श्रावक भी न हो, अविरत सम्यग्दृष्टि हो चतुर्थ गुणस्थान वाला, वह भी तीर्थकरप्रकृतिका बंध कर सकता। अज्ञानी नहीं कर सकता। धर्मात्मा को निरखकर, ज्ञानीको निरखकर ऐसा अन्दाज होता है कि जितना आह्लाद अपने परिवार को देखकर नहीं होता। ज्ञानीकी महिमा ही अलग है। परिवार तो ज्ञाता दृष्टा रहता। एक कर्तव्यके नातेसे सब कुछ करता, पर धर्मात्मा जनोके प्रति उसका वात्सल्य विशेष रहता। जबकि अज्ञानियोकी वृत्ति होती है। धर्मात्माओ से उपेक्षा और परिजनों से प्रीति करनेकी। ज्ञानी पुरुष की वृत्ति अज्ञानियोसे विपरीत होती है। गृहस्थीमें रहनेके नातेसे वह सब व्यवस्था मनाता फिर भी परिवारके लोगोके प्रति उसका आकर्षण नहीं रहता। उसका आकर्षण रहता है रत्नत्रयके धारण करनेका जिसके मनमें जिसकी धुन है उसको देखकर वह आकर्षित हो ही जाता है। ज्ञानी पुरुष तो विनय सम्पन्नता या शीलव्रत धारण आदिके जो संकल्प बनाता है उनमें वह दृढ रहता है। वह निरन्तर ज्ञानमें उपयोग रखता है। ज्ञानस्वरूप मैं हूँ। यह ज्ञान ज्ञाता ही रहे, यह ही मेरी पवित्रता है। यह ही तीर्थकर प्रकृतिका बंध करने वाली भावना है। उनका संवेग भाव, धर्मात्माजनोमें अनुराग और संसार शरीर भोगोसे उपेक्षा, यथाशक्ति त्याग और यथाशक्ति तपश्चरण। लोग यथाशक्तिका अर्थ क्या लगाते कि यथाशक्ति करना मायने तुम्हारी जितनी शक्ति है उससे कई गुना कम करो, थोड़ा करो, पर यथाशक्तिका यह अर्थ नहीं है। किन्तु यथाशक्तिका अर्थ है कि अपनी शक्ति न छिपाकर पूरी शक्ति से काम करो तो यथाशक्ति त्याग, यथाशक्ति तप, उनकी वृत्ति होती है। जिनके तीर्थकर प्रकृतिका बंध हो रहा। साधुजनोकी संगति, समता परिणामकी प्रशंसा, उनके साम्य भाव की सिद्धिके लिए हर प्रकारके आयोजन, उनकी वैयावृत्ति करना, अरंहत की भक्ति करना, बहुत ज्ञानी हो उनकी भक्ति करना, आगमकी भक्ति करना, जो आवश्यक कर्तव्य है उनको बार-बार किया जाना, जैनधर्मकी प्रभावना करना, आगममें धर्मात्मा जनोमें वात्सल्यभाव रखना ऐसी कुछ सद्भावना है कि जिससे तीर्थकरप्रकृतिका बंध होता है। तो यह सब वर्णन कल्याणवादपूर्वमें है।

कल्याणकसम्बन्धित विषयोके अतिरिक्त चन्द्र सूर्यका गमन कैसे होता है और उनके कारण कौन-कौन सगुन असगुन कल्याण है यह भी वर्णन इस पूर्वमें है। इसमें है 26 करोड़ पद।

(50) प्राणवाद पूर्वमें वैद्यक सम्बन्धी विशयोका निर्देश— 12वाँ पूर्व है प्राणवाद। इस प्राणवादपूर्वमें वैद्यक सम्बन्धी बातोका वर्णन है। आज लोकमें जितने भी शास्त्र है, आगम है मतमतान्तर है उनका वर्णन वे लोग अच्छा नहीं कर सके जितना वर्णन द्वादशांग में पड़ा है। खोटी बातोका वर्णन, खोटे धर्मोका वर्णन, सभी बातोका वर्णन इस द्वादशाङ्ग में है। जो जैन शासनमें नहीं है वह कही नहीं है, पर उनका वर्णन वस्तुस्वरूप बतानेके लिए है, श्रद्धा करानेके लिए नहीं है। तो वैद्यकका भी वर्णन इस प्राणवाद पूर्वमें है। कैसे चिकित्सा करना, निदान करना, किन-किन औषधियोंमें क्या-क्या गुण है? अभी वैद्यक शास्त्र बहुत है मगर जैन वैद्यकशास्त्र तो देखो हमने एक बार देखा था। उनमें किस-किस ढंग से वर्णन है। प्रारम्भ किया है उसमें पूर्वभवसे और है वैद्यकशास्त्र जन्म हुआ। जातिस्मरणका वर्णन किया और पूर्वभवके संस्कारका किस प्रकार यहाँ एक प्रभाव रहता है उसका वर्णन किया क्योंकि रोगनिदान औषधि इन सबमें यह भी काम आता है। फिर ऐसा क्रमसे वर्णन है कि जो क्रम जैनाचार्योकी कृतियोंमें है।

(51) प्राणवाद पूर्वमें भूतव्याधि, विशचिकित्सा व स्वरोदयके फलका वर्णन व पदगणनाका निर्देश— वैद्यकमें भूतादिक व्याधियोका भी वर्णन है यह भी एक व्याधि है कि किसीको भूत लगे, अब वह भूत लगना दो तरहका है। एक तो दिलमें भूत बना लिया, अपनी कुछ कल्पना कर डाला। तो यह व्याधि दूर करनेके मंत्र आदिकका वर्णन इस प्राणवाद पूर्वमें है, और विष भी रोग है। सर्पका विष, अन्य विष, तो इस विषके दूर करने का भी उपायइस प्राणवादमें है। स्वस्थ होनाका एक उपाय स्वरसाधना भी है और स्वर उन व्याधियोके बतानेका उपाय है। इंगला, पिंगला, सुषम्ना आदिकके सहारेसे दूसरे रोगोका शुभ-अशुभ बताया जा सकता। नाकके दाहिने छिद्रमें वायु है या बायें छिद्रसे वायु निकल रही या दोनोसे निकल रही, या कुछ ऊपर होकर निकल रही या नीचेसे निकल रही या कितने अंगुल तक निकल रही, इन सबका विचार करके दूसरेका शुभ-अशुभ बताया जाता है। तो स्वरोदयका भी इस 12 वे पूर्वमें वर्णन है। इसमें 12 करोड़ पद है। पूर्वका बहुत विशाल है, इसीलिए ऐसा कह दिया जाता है कि ये 14 पूर्वके ज्ञानी है, ये 10 पूर्वके ज्ञानी है। उसका अर्थ यह लिया जाना चाहिए कि 11 अङ्ग तो जानते ही है मगर इन पूर्वोको भी जानते है।

(52) क्रियाविशालपूर्वमें संगीताविधानो का वर्णन— दृष्टिवाद अङ्गके पूर्वगत नामके अधिकारमें जो पूर्वोका वर्णन चल रहा है उसमें 13वाँ पूर्व है क्रियाविशाल। क्रियाविशाल नामक पूर्वमें अनेक क्रियाओ का वर्णन है और वे क्रियाएँ कला सहित है। तो कला और क्रिया इन सभीका वर्णन इस पूर्वमें है। जैसे संगीत शास्त्र यह भी एक क्रिया है। संगीत शास्त्र एक ऐसी क्रिया है कि जिसके आधारसे यह जीव ध्यान और धार्मिक प्रेरणाओमें बढ़ता है। संगीताशास्त्र मुख्यतया धर्म साधनाका अंग मानकर चला था लेकिन धर्मप्रेमी जीव रह गए कम, रागप्रेमी हो गए अधिक तो उन्होने संगीताको रागमें ढाल लिया। पहले समयमें जितने संगीत हुआ करते थे वे धार्मिक योजनाओमें चलते थे और इसी कारण संगीत का बड़ा आदर था। ऊँचे-ऊँचे ग्रन्थोमें भी संगीत, शास्त्रका वर्णन चलता था। एक सरस्वतीकी फोटो लोग बनाते है कि सरस्वती देवी तालाबके बीच कमलके ऊपर बैठी है। उसके नीचे हंस बैठा है और देवीके चार हाथ है, एक हाथमें पुस्तक है, एक हाथमें वीणा है, एक हाथमें माला है, एक हाथमें मानो शंख है। तो उसमें जो वीणा दिखाई गई है और

सरस्वती देवीकी वीणा ही मुख्य है। न भी चार हाथ दिखाया हो फोटोमें तो भी वीणा अवश्य दिखाई जाती है। तो वह सरस्वतीकी जो वीणा है उस वीणासे यह संकेत मिलता है कि धर्मध्यानके लिए, ज्ञानप्रकाशके लिए संगीत बहुत प्रधान अच्छा उपाय है जिसमें लोगो को दिल भी लगें और धर्मकी बात भी सीखे। क्रियाविशाल पूर्वमें संगीत शास्त्रका वर्णन है।

(53) क्रियाविशालपूर्वमें छन्द अलंकारादिका वर्णन— इसी पूर्वमें छंद कैसे बनाये जाते? संस्कृत या अन्य-अन्य भाषाओके छंद मात्रा गण तुक सन्तुलन आदिक सभीका भले प्रकार वर्णन है कि छंद शास्त्र इस तरह रचे जाते है। संगीतका और छंदोका बड़ा सम्बन्ध है। संगीत गायन पर ही होगा और गायन शुद्ध होगा तो संगीत ठीक चलेगा और गायन शुद्ध वही कहलाता है कि जहाँ मात्रा गण आदिक सब ठीक होते है। तो इस क्रियाविशाल पूर्वमें छंदका भी पूरा वर्णन है। अलंकार आदिक जैसे महिलाओ अथवा पुरुषोकी शोभाके लिए श्रृंगारके लिए कई प्रकारके अलंकार होते है कोई सोना चाँदीके होते तो कोई केवल एक चित्रके होते, जैसे चंदन लगाया या अन्य जगह कोई रचना हुई, या मेंहदी लगाया तो अलंकार कई ढंगके होते है। कैसा कौनसा अलंकार कब ठीक है उसका वर्णन है तथा छंद शास्त्रके साथ-साथ उनका अलंकार चलता है। जैसे कभी-कभी किसीकी प्रशंसा निन्दाके शब्दोंमें भी चलते है। सुनने में ऐसा आता है कि जैसे मानो निन्दा की जा रही हो मगर हा रही प्रशंसा। कहीं उपमाके रूपमें भी अलंकार है, जैसे कह दिया कि इसका मुख चन्द्रमाकी तरह है। कुद भी बात पायी जाती है, पर यह बतानेके लिए कि इसके मुखमें शोभा है और कुछ कांति भी है इसलिए चन्द्रमाकी उपमा अलंकार हुआ, इस प्रकार अनेक अलंकारोका वर्णन इस क्रिया विशाल पूर्वमें है।

(54) क्रियाविशालपूर्वमें चौंसठ कलाओ तथा चौरासी गर्भादिक्रियाओका वर्णन— क्रियाविशाल पूर्वमें 64 कलाओका वर्णन है। इन 64 कलाओमें सब विद्याये आ गई। धन कमाना, रसोई बनाना, व्याख्यान देना, पढ़ाना, पढना आदिक सब बातोकी कलाये आ जाती है। तो उन 64 कलाओका अलग-अलग वर्णन विस्ताररूपसे इस पूर्वमें किया गया है। कल्याणवाद क्रियाविशाल पूर्वमें गर्भाधान आदिक 84 क्रियाओका वर्णन है। गर्भ होना, जन्म होना, कैसे बच्चोका पालना पोषना यह सब वर्णन क्रियाविशाल पूर्वमें है। देखिये-यह आगम श्रुतज्ञानप है मगर जो बात जैन आगममें न मिले वह बात दुनियामें कही नहीं है। खोटी बात अच्छी बात जो भी बात दुनियाके अन्दर है सबका वर्णन द्वादशांडुमें मिलता है। वहाँ एक समझनेकी बात है और निराकरण भी तो आगममें किया गया है, पापका अगर वर्णन है तो वह पाप करनेके लिए वर्णन नहीं, किन्तु त्यागने के लिए वर्णन है। वर्णन सब प्रकारका मिलेगा। कौन पालनेके योग्य है, कौन त्यागनेके योग्य है? तो जितनी व्यावहारिक बातें है। कैसे अच्छा जीवन रहे, कैसे पालन-पोषण हो, इन सब बातोका वर्णन इस क्रियाविशाल पूर्वमें है।

(55) क्रियाविशाल पूर्वमें एकसौ आठ सम्यग्दर्शनादि क्रियाओ तथा देववंदनादिक 25 क्रियाओका वर्णन — सम्यग्दर्शन आदिक 108 क्रियाओका भी वर्णन इस क्रियाविशाल पूर्वमें है। सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान, सम्यकआचरण कैसे अध्ययन करना, कैसे श्रद्धान करना आदिक सब वर्णन इस पूर्वमें है। देववंदन आदिक 25 क्रियाओका भी वर्णन है। देववंदन-कैसे नमस्कार करना कैसे स्तवन, करना, कैसे भगवानसे आवेदन करना और गुरु आदिककी कैसे सेवा विनय करना आदिक सभी क्रियाओका वर्णन इस पूर्वमें है। पर जो श्रावकके लिए या मुनिजनोके लिए रोजके करनेके काम है या नैमित्तिक काम है कोई विशेष पर्व आया-अष्टमय चतुर्दशी, अष्टाहिका, दशलक्षण आदि तो उनमें कौनसी

क्रिया करनी चाहिए, ऐसी सब क्रियावोका वर्णन इस क्रियाविशाल पूर्वमें है। इस पूर्वके पद 9 करोड़ है।

(56) त्रिलोकबिन्दुसार पूर्वमें लोकस्वरूपका वर्णन — 14वाँ पूर्व त्रिलोकबिन्दुसार है। इस पूर्वमें तीनो लोकका स्वरूप बताया है। जिसे एक संक्षेप रूपसे जानते हैं कि यह लोक पुरुषाकार है। सो पुरुष खड़ा करनेसे लोकका आकार नहीं बनता, किन्तु 7पुरुषोको एकके बाद एक खड़ा किया जाय और फिर वे सभी पुरुष अपने-अपने पैर फैलाकर कमरपर हाथ रखकर खड़े हो तो लोकके आकारका चित्रण हो जाता है। लोक सामनेसे नीचेसे 7 राजू है और घटते-घटते बीचमें एक राजू है और ऊपरके आधेमें बढ़ते-बढ़ते 5 राजू है, फिर घटकर एक राजू है। अगर पीछेकी और देखा जाय तो सब जगह सात-सात राजू है। जैसे की 7 बालक खड़े है तो पीछे सब जगह सात-सात हे सिर्फ यही सामने एक और इतना विभिन्न है— उसमें मध्यलोकके नीचे 7 पृथ्वियोकी रचना है, जिसमें पहली पृथ्वीमें अन्दर-अन्दर ऊपर के दो खण्डोंमें भवनवासी और व्यन्तरोके बहुत रत्नोंके महल है, जिसमें चैत्यालय भी है उसके नीचेके खंडमें पहला नरक फिर नीचे 6 पृथ्वियोंमें दूसरे तीसरे आदिक 7 नरक तक हे। इस मध्यलोकमें असंख्याते द्वीप समुद्रकी रचना है और उससे अतिरिक्त बहुत फैला हुआ है और ऊपर स्वर्गोकी रचना फिर अहिमिन्द्र, फिर सिद्धशिला उसके ऊपर लोकके अन्तमें सिद्ध भगवान विराजे है। इस लोकसम्बन्धी सब विवरण इस पूर्वमें है। कितनी जगह है, यह जीव कहाँ-कहाँ अनन्त बार पैदा हुआ है। सभी जगह पैदा हुआ है। कहाँसे मरकर कहाँ जाता है और किस तरह जाता है, यों सभी तरहकी रचनाओका विवरण इस त्रिलोक बिन्दुसारमें हे।

(57) त्रिलोकबिन्दुसार पूर्वमें बीजगणित, मोक्षस्वरूप व मोक्षहेतुभूत दृष्टि व क्रियावोका वर्णन तथा बारहवें पूर्वकी पदगणना व समस्त पूर्वोकी पदगणनाका संनिर्देश— त्रिलोकबिन्दुसार पूर्वमें बीजगणितका भी स्वरूप बताया गया है। ऐसा गणित जो बीजरूप है, जैसे कि पहले हिसाब के गुर हुआ करते थे, ऐसे ऊँचे-ऊँचे गणितके इसमें बीज दिए गए है। मोक्षका स्वरूप, मोक्षके कारणभूत क्रियावोका स्वरूप इस 14वे पूर्वमें है। मोक्ष मायने क्या? छुटकारा। किससे छुटकारा? कर्मोंसे छुटकारा, देहसे छुटकारा। जीव एक परमार्थ सत् है, वास्तविक पदार्थ है इसके साथ कर्म और शरीरका जो बंधन लगा है उससे यह संसार में रूलता है, कर्म और संसारका बंधन छूट गया तो क्या जीव अकेला रह गया? अकेला रह जानेको मोक्ष कहते है, इतना अकेला रह गया कि उसके साथ देह भी नहीं, कर्म भी नहीं, और जब कर्म नहीं है तो कर्मका निमित्त पाकर जी विकार हुआ करते है वे विकार भी कहाँ से है? तो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म, इन तीनों प्रकारके कर्मोंसे रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष बोलते है। द्रव्यकर्म मायने ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म, भावकर्म मायने जीवमें विकार मोह रागद्वेष सुख दुःख विकल्प विचार ये सब भावकर्म हे। नोकर्म मायने शरीर, इन सबसे छूट गया, केवल अकेला रह गया। तो केवल अकेला रह जानेका नाम मोक्ष है, पर ऐसा मोक्ष पानेका मूल उपाय, सही उपाय इस समय भी ऐसा ही अकेला स्वरूप है उस स्वरूपको देखे, जो अपनेको यहाँ अकेला देख सकेगा वह अकेला बन जायगा और यहाँ दूसरोमें मिला हुआ देखेगा तो वह मिला हुआ ही रहेगा। इस कारण उपाधिरहित, विकाररहित अपनी ही सत्तासे स्वयं सिद्ध मात्र चैतन्यस्वरूपमें यह में हूँ, ऐसा अनुभव करना। तो जो यहाँ भी एकत्वस्वरूपको देखते है वह अकेला हो जाता है याने मुक्त हो जाता है। समयसारमें इसी एकत्वका वर्णन है जिस एकत्वकी दृष्टि पाये बिना इस जीवकी मुक्ति नहीं हो सकती। तो इस त्रिलोक बिन्दुसारमें मोक्षका और मोक्षके कारणोका

वर्णन है। मोक्षकी साधना करने वाले मुनिजन, भव्यजन जीवनमें किस-किस ढंगसे रहे, क्या-क्या साधना बनाये कि उनको रत्नत्रयमें बाधा न आये, रत्नत्रयकी पूर्णता बने, ऐसी साधनाका भी वर्णन है। इस पूर्वके 12 करोड़ 50 लाख पद है, ऐसे इस 12वें अंगका पूर्वगत नामका चौथा अधिकार है उस सबके मल 14 पूर्वोका, पदोका जोड़ 95 करोड़ 50 लाख है।

(58) द्वादशांगमें वर्णित विषय व पदगणनाके बोधका प्रभाव— यहाँ 11 अंग 14 पूर्व आदिका वर्णन चल रहा। पूजामें तो सब लोग पढ़ लेते हैं द्वादशांग, 12 अंग, जिनकी धुन है ओंकार रूप। यह आगम शास्त्र 12 अंगोंमें है, वे बारह अंग क्या-क्या कहलतो? पढ़ तो गए थे 12 अंग, पर उनका पता नहीं है। वे 12 अङ्ग ये हैं कि जिनमें सर्व प्रकारका वर्णन चल रहा। किसी भी एक बातको समझनेके लिए अनेक बातोका परिचय करना होता है। कोई यह सोचे कि मुझे तो सिर्फ जीवका सहजस्वरूप समझना है, हमें अन्य किसीका ज्ञान करनेसे मतलब नहीं, तो ऐसेमे जीवका स्वरूप समझमें न आयगा। स्वरूप समझने के लिए बहुत विशाल ज्ञान करना होता है तब उसमें से सारभूत तत्वका सही परिचय बनता है। तो ये 12 अङ्ग क्या हैं, इनमें क्या वर्णन है, जब यह जानते हैं तो ज्ञानकी महिमा अपनेको विदित होती है, ऐसा ऐसा विशाल ज्ञान है, और वह ज्ञान कोई अलग बात नहीं है। मेरा ही जो ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपका ही विकास है। अपना माहात्म्य ज्ञात होता है नाना प्रकारके ज्ञानोसे। इस ही ज्ञानमें यह महिमा है और ये सब कुछ महिमा नहीं। इसका ज्ञान विशुद्ध होवे तो केवलज्ञान होता है। जिसमें तीनों लोकका, तीनों कालके सब पदार्थों का स्पष्ट ज्ञान होता है और वह भी क्रमसे नहीं, किन्तु एक साथ ज्ञान होता है। तो वह द्वादशांगोंमें दृष्टिवाद अङ्ग नामके 12वें अङ्गका चार अधिकारोका वर्णन हुआ।

(59) बारहवें अंगके अन्तिम विभाग चूलिकाके प्रथम भेद जलगता चूलिकाके विषय व पदगणनाका निर्देश— अब दृष्टिवादका 5 वाँ अधिकार है चूलिका। चूलिकाके 5 भेद हैं—(1) जलगता, (2) स्थलगता, (3) मायागता, (4) रूपगता, (5) आकाशगता। इस जलगता चूलिकामें जलमें कैसे प्रवेश करना, जलमें कैसे तैरना, कैसे डूबना, जलको कैसे रोकना, जलका बांध कैसे बाधना, यह सब वर्णन है। सुननेमें ऐसा लग रहा होगा कि जैन शासनमें इसके वर्णनकी क्या आवश्यकता थी? तो भाई जब द्वादशाङ्ग शास्त्र है। श्रुतज्ञान है तो श्रुतज्ञानके द्वारा जो-जो बात जानी जा सकती है वह सब वर्णन आता है। वैज्ञानिक प्रयोग से सब द्वादशांगके अन्दर आये और हमने सुना है ऐसा कि बहुत पहले समय में हिन्दुस्तानसे प्राचीन जैन शास्त्र गए हैं जिनमें अनेक क्रियावोका वर्णन था और उससे उनको विज्ञानके विकासमें मदद मिली है। तो जलगता चूलिकामें जलका स्तम्भन करना, जलमें गमन करना, अग्निमें प्रवेश करना, अग्नि जल रही है इसमें से निकल रहे हैं। कितनी ही औषधियाँ तो यहाँ भी हैं कि हाथमें लगा लो तो गरम-गरम लोहे की जंजीरोको भी छूने पर उसका कुछ असर हाथमें नहीं होता। तमाशा दिखाने वाले लोग अक्सर करके दशहराके दिनोंमें इस प्रकार के दृश्य अनेको जगह दिखाया करते हैं। साँकलको हाथसे छू रहे हैं और उसपर हाथ जला रहे हैं, पर हाथ नहीं जलता। हाथपर कोई औषधि ऐसी लगा लेते हैं कि हाथ नहीं जलता। तो जल और अग्नि सम्बन्धी सब कलाओका वर्णन इस जलगता चूलिकामें है? अग्निका भक्षण कर लें आर मंत्र तंत्र आदिकके द्वारा भी इन सब कार्याको कर लें, यह सब वर्णन इस पहली चूलिकामें है। इसके पद हैं—2 करोड़, 9 लाख, 89 हजार 200।

(60) स्थलगता व रूपगता चूलिकाके विशय व पदगणनाका निर्देश— दूसरी चूलिका है स्थलगता—जमीन पर चलना। चल रहे हैं जमीन पर और आड़े पर्वत आ गया तो उस पर्वतके भीतरसे भी निकल जाय, यह भी एक कला है। और इसका वर्णन इस चूलिकामें किया गा है। ऋद्धिसे बने, मंत्रसे बने, इन सब कलाओंका वर्णन स्थलगतामें है। पहाड़के दूसरी तरफ जाना हो तो कहो 10—12 मील घूम कर जाय और सीधा कोई एक मील ही है, पर प्रवेश तो नहीं कर सकता कोई। तो स्थलगता चूलिकामें पर्वत आदिक में प्रवेश करनेकी क्रियावोका वर्णन है। ये क्रियाये बनी है मंत्र तंत्र तपश्चरण के द्वारा। तो इन मंत्र तंत्र तपश्चरणका वर्णन इस स्थलगता चूलिकामें है। इसके भी पद 2 करोड़, 9 लाख, 89 हजार 200 है। सभी चूलिकाओके पद एक समान है। तीसरी चूलिका है मायागत—इसमें मायामयी इन्द्रजाल और विक्रिया कैसे कर सके, ऐसे मंत्र—तंत्र तपश्चरण का वर्णन है। छोटे शरीरको बड़ा बना ले, बड़ेको छोटा बना ले, छोटेका वजनदार बना ले, ये सब कलायें हैं। देखिये—जब प्रद्युम्न कुमार (श्रीकृष्णके लड़के) हरे गए थे और दूसरी जगह जाकर अनेक प्रकारकी कलाये सीखी। और बहुत बड़ी अवस्था होनेपर उन्हें अपने माता—पिता से मिलने का विचार हुआ तो वे आये तो यो ही सीधे मिलने नहीं आये। बड़े पुरुषो में कोई कालकी बात, अद्भुत बात देखने को मिला करती है। वे ऐसे नहीं आये कि चलो पत्र डाल दिया कि हम हरे गए थे, यहाँ अच्छी तरहसे रह रहे हैं, हम अमुक दिन आ रहे हैं..... यों बात नहीं होती। वे अपने आनेका भी समय नहीं बताते, किन्तु उनकी करामातसे ही लोग जान जाते कि आ रहे हैं। तो प्रद्युम्न कुमार अपनी किसी कलाके बलसे पहुँचे उस नगरीमें, और वहाँ पहुँचकर जो राजदरबारका बहुत बड़ा फाटक था उसके आगे पड़ गए। लोगो के आने—जाने का रास्ता रुक गया। वहाँ बहुतसे लोगोने उन्हें उठानेकी बहुत कोशिश की, पर वे किसीके हिलाये न हिले। ऐसी ही और भी अनेक अद्भुत बातें दिखायी, उसके बाद अपना रूप प्रकट किया, और किसी अवधिज्ञानी मुनिने बता भी दिया था कि जिस दिन ऐसा अतिशय होगा, ऐसा चमत्कार देखनेको मिलेगा उस दिन समझना कि प्रद्युम्न कुमार आ गया। तो ऐसी अनेक मायामयी विद्याओका वर्णन इस मायागत चूलिकामें है। इसके भी पद 2 करोड़ 9 लाख 89 हजार 200 है।

(61) रूपगता चूलिकाके विशय व पदगणनाका निर्देश— चौथी है रूपगता चूलिका, इसमें रूप विक्रियाका वर्णन है। पुरुष अपना रूप पलट दे, हाथी, घोड़ा, बैल आदिक अनेक प्रकारके रूप पलट लेवे, उसकी साधनाका वर्णन है उन मंत्र तंत्र तपश्चरणका। एक ब्रह्मागुलाल मुनि हुए हैं। उनके सम्बन्धमें बताया जाता है कि वे रूपके बदलनेमें याने बहुरुपियाका काम करनेमें बहुत कुशल थे। उनकी इस कलाको देखकर मंत्री लोग जलने लगे थे। तो उन मंत्रियोने एक ऐसा उपाय रचा कि राजाके द्वारा उस बहुरुपियाको प्राणदण्ड दिलवा दिया जाय। तो राजाके पास मंत्री लोग जाकर बोले—राजन्! इस बहुरुपियासे कहो कि इस बार सिंहका रूप धरकर आये। तो उस रूपमें वही तो दिखाना चाहिए जिसका रूप है? —जब वह सिंह गरजता हुआ आया तो राजाके लड़केने उससे मजाक कर दिया— वह देखो कुत्ता आ गया। वहाँ ब्रह्मागुलालने चूँकि अपने भाव सिंहके जैसे बना रखा था, तो राजकुमार के मुखसे अपमान भरी बात सुनकर क्रोधित हो उठा और अपने पंजोसे राजकुमार का पेट फाड़कर उसकी हत्या कर दिया। अब राजा भी उसका क्या कर सके, आखिर सिंहका रूप रखने का आदेश दे चुका था खैर इस घटनाके बाद मंत्रियोने राजाको सलाह दिया कि इस बार आप उस बहुरुपियाको मुनि बनकर आनेका आदेश दे। राजाने वैसा ही किया। जब ब्रह्मागुलालको मुनि बनकर आनेका आदेश मिला राजासे तो ब्रह्मागुलाल बोले—महाराज, मुनि का रूप रखनेके लिए हमें दो तीन

महीनेका समय दीजिए। तो राजाने कहा—ठीक है, दो तीन माहका समय दिया जाता है आखिर ब्रह्मागुलालने दो तीन माह तक एकान्तमें रहकर धर्मकी साधना करके पूरा अभ्यास करके मुनिका रूप रख लिया और राज दरबार में पहुँचे। उस समय ब्रह्मागुलाल मुनिका रूप दर्शनीय था, आखिर सही मुनि बनकर आये थे। वहाँ राजाने, मंत्रियोंने तथा सभीने देखा और सभी धन्य—धन्य कह उठे, पर ब्रह्मागुलाल मुनि बिना ही किसीसे बोले विरक्त होकर जंगलके लिए चल पड़े। सभीने बहुत समझाया—भाई मुनिका रूप ऐसा नहीं हुआ करता कि उसे ग्रहण करके फिर छोड़े। तो इसमें अनेक रूपोका, चित्रामका, काष्ठलेपका, धातु रसायनका निरूपण है। इसमें भी 2 करोड़ 9 लाख 89 हजार 200 पद है।

(62) आकाशगता चूलिकाके विषय व पदगणनाका निर्देश— सूत्रपाहुड ग्रन्थमें आगम किया है, कितना है, उसमें क्या—क्या विषय है यह वर्णन चल रहा है। तो समस्त आगम द्वादशांग और अंग बाह्य इन दो में विभक्त है। विभक्त यो हो गया कि जितने समस्त आगममें पद है, अक्षर है उन अक्षरोंमें मध्यम पद विभक्त किये गये तो पद पूरे जितने हुए वे तो आ गए द्वादशांगमें और उनसे जो अक्षर बचे जिनका एक पद पूरा न हो सका वह आया है अंग बाह्यमें। तो अंग बाह्यका जब वर्णन होगा और उनका विषय बताया जायगा तो यह विदित होगा। कि इतना अधिक विषय है समस्त अंग बाह्यमें और फिर भी मिलकर एक पद नहीं है, उससे पदके प्रमाणका अनुमान होगा। तो प्रकरणमें चूलिकाका वर्णन चल रहा, जिसमें जलगता, स्थलगता, मायागता और रूपगता, इन चार चूलिकाओंका वर्णन हो चुका। अब 5वीं चूलिका है आकाशगता। आकाशमें कैसे गमन किया जाता, गमन करनेकी सिद्धि कैसे हो, उसके कारणभूत मंत्र यंत्र तंत्र आदिकका वर्णन है। मंत्र कहलाता है अक्षर वाला जाप, यंत्र होता उसका कोई आकार बनाना और आकारमें अक्षर विन्यास करना और तंत्र कहलाता है कोई टोटका या चेटक आदि। जैसे कोई पुरुष बीमार है और कोई मंत्र यंत्र तंत्रकी भी औषधि करे तो मंत्र बुलवाना कोई मंत्र बोलता है, झाड़ता है, ऐसा रिवाज अब भी है। यंत्र कहलाया कोई कागज, भोजपत्र वगैरहमें रखकर उसे धागेसे बाँध देना और तंत्र कहलाया उसका कोई टोटका करना। जैसे रात्रिको सड़कपर दीपक या कोई चीज रख दे, (यह लोग बतला रहे हैं) पर यहाँ तो आकाशगमन कर सके उसकी सिद्धिके लिए यंत्र मंत्र तंत्र बताये गए हैं। इसमें भी 2 करोड़ 9 लाख 89 हजार 200 पद है। इस प्रकार 12वाँ अंग पूर्ण हुआ।

(63) द्वादशांगमें से निकले हुए आजके उपलब्ध आगमका परिमाण— इस 12वे अंगके बीच यह बात जानना कि जो 12वें अंगमें पूर्व बताये गये उत्पाद पूर्व आदिक जिनमें सबसे अधिक पद है उन पूर्वोंमें प्रत्येकमें 10—10 वस्तु है। याने महाधिकार और उन वस्तुओंमें प्रत्येक वस्तुमें 20—20 प्राभूत है, जिनमें दूसरे पूर्वमें अग्रायणी पूर्वमें 14 भूमिकाये है उनके नाम हैं—पूर्वात, अपरांत, ध्रौव्य, अध्रौव्य, धवल, लब्धि, सम्प्रणिधि, भौम, सर्वार्थ, कल्पनीय आदिक उनमें से जो 5वीं वस्तु है उसके 20 प्राभूत है। तो उन प्राभूतोंमें जो चौथा प्राभूत है उसके 24 अनुयोग द्वार है। उन 24 अनुयोग द्वारोंमें षट्षंडागमकी रचना हुई, जिसकी टीका धवल कहते हैं। वह तो है षट्षंडागमकी टीका, मगर इतने बड़े विस्तार वाला जो आज साहित्य पाया जा रहा वह एक पूर्वकी एक वस्तुमें से एक प्राभूतकी कुछ अनुयोग मात्र है, तब द्वादशांग समझो कितना बड़ा है, उसके अनुयोग कौन—कौनसे हैं? कृति, वेदना, स्पर्शन, कर्मप्रकृति, बंधन, निबंधन, प्रक्रम, अनुप्रक्रम, अभ्युदय, मोक्ष, संक्रमण, लेश्या कर्मपरिणाम, साता असाता, दीर्घ, ह्रस्व, भवधारणा, पुरुपुद्गल, निघति, सनिकाचित,

अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिम स्कंध, अल्पबहुत्व, इसीमें से कुछ वर्णन आजके करणानुयोग साहित्यमें पाया जाता है। तो इतना विशाल श्रुतज्ञान है।

(64) श्रुतज्ञानकी विशालताका निर्देशन — न्यायशस्त्रमें यह बताया है कि श्रुतज्ञान और केवल ज्ञान दोनो बराबरके ज्ञान है। केवलज्ञानसे कम श्रुत ज्ञान नहीं, पर फर्क यह हो गया कि केवल ज्ञान साक्षात् जानता है और श्रुत ज्ञान असाक्षात् जानता जैसे किसीने कोई तीर्थ क्षेत्र नहीं देखा मगर उस तीर्थ क्षेत्रकी पुस्तक मिल गई, उस पुस्तक को बाँचकर सब बातें उसने जान ली। इस स्टेशनसे उतरते हैं, इस तरफको सड़क गई है, इतनी चौड़ी सड़क है। इतनी दूर धर्मशाला है, वहाँ इतने कमरे हैं। मान लो उस तीर्थ क्षेत्रका फोटो भी बहुत स्पष्ट रूपसे दिया हुआ हो जिससे कि उस तीर्थ क्षेत्रका सब कुछ कोठियाँ, आफिस, मन्दिर आदि सब जान लिया, मूर्तियाँ भी जान ली। जिसमें खूब पूरा वर्णन हो ऐसी पुस्तकको पढ़कर तीर्थका हाल जान लिया और एक मनुष्य वहाँ ही जाकर प्रत्यक्ष रूपसे देख आवे तो जाननेमें वे दोनो बराबर हैं, पर एकने साक्षात् जाना और एकने पुस्तकसे जाना। यो स्याद्वाद और केवलज्ञान ये दोनो समस्त तत्वोको बताने वाले हैं, फर्क साक्षात्कार और असाक्षात्कारका है। जो तत्व इसमें न आया हो, समझो वह तत्व है ही नहीं, याने सब कुछ इसमें आ गया है। तो ऐसा विशाल श्रुत ज्ञान जो पदके रूपमें है वह 12 अंगोंमें है।

(65) अड्डबाहामें सामायिक प्रकीर्णकका विषय— अब पदोसे बचे हुए जिनका कि एक पद नहीं बना उन अंग बाह्योका वर्णन करते हैं। अंग बाह्य श्रुतके 14 प्रकीर्ण है, जिनमें पहला प्रकीर्णका है सामायिक। सामायिकका वर्णन 6 प्रकारसे और कई प्रकारोसे है। सामायिक 6 प्रकारके होते हैं—(1) नामसामायिक (2) स्थापनासामायिक (3) द्रव्यसामायिक (4) क्षेत्रसामायिक (5) काल सामायिक और (6) भावसामायिक। **नाम सामायिक** नाममें शब्दमें रागद्वेष न लाना, अथवा यह सामायिक है इस तरहका नाम होना यह नाम सामायिक है। शब्दोंमें नाममें इसके समता रहती है। **स्थापना सामायिक**— यह सामायिक है, ऐसी स्थापना होना अथवा स्थापित जो वस्तुवे है, जिनमें स्थापना कर रखी है उनमें रागद्वेष न होना स्थापना सामायिक है। जैसे देवोंकी स्थापना होती है— कुदेवकी, देवकी तो निर्णयकी बात और है और जो छोटी पदवी है उसमें यह खोटा, यह अच्छा, ऐसा भाव भी होता है, पर कुछ रागद्वेष नहीं, समता परिणाम है, ऐसे भावको स्थापनासामायिक कहते हैं। इसमें कहीं यह नहीं है कि उन सबका एकसा विनय करनेका भाव हो, वह तो मिथ्यात्व है, मगर स्थापित वस्तुओंमें उसे रागद्वेष नहीं जगता, इतना उसके शुद्ध ध्यान बन रहा है। **द्रव्यसामायिक**—सामायिक करेंगे उससे पहलेकी जो तैयारी है उसे भी द्रव्यसामायिक कहते हैं। द्रव्य जगतमें कितने हैं, उन सब द्रव्योके बारे में रागद्वेष न होना यह द्रव्यसामायिक है। जिन पुरुषोकी आदत किसी भी पुद्गलसे अधिक घृणा करनेकी है और किन्ही सुहावने, सुगंधित पदार्थोंमें शौक करनेकी है। तो कहीं अत्यन्त घृणा और कहीं अत्यन्त राग, इस प्रकारकी जिनकी प्रकृति है उनके समता परिणाम मुश्किल से आता है। थोड़ा हो वह कमजोरी है मगर उसका ज्ञाता ही रहे, यह वस्तु ऐसी ही गंदी होती है। तो ऐसे द्रव्योमें समता परिणाम होना द्रव्यसामायिक है। **क्षेत्रसामायिक**—क्षेत्रका एक निश्चय बनाकर उतने ही क्षेत्रमें रहूँगा, आगे न जाऊँगा, और कोई सा भी क्षेत्र हो, स्थान हो, साधारण—असाधारण, उन सब क्षेत्रोंमें समताभाव होना, वह क्षेत्र सामायिक है। प्रसिद्धि है कि अमुक पर्वतसे, अमुक क्षेत्रसे बहुत मुनि मोक्ष गए हैं इस कारण वह क्षेत्र पवित्र है, मगर यह भी तो सोचो कि जहाँ आप बैठे हैं यहाँसे भी अनन्ते मुनि मोक्ष गए या नहीं? ढाई द्वीपके अन्दर प्रत्येक स्थानसे अनन्त सिद्ध हुए। जहाँ आपकी रसोई बनती हो, गुसलखाना हो, बैठक हो, कोईसी

भी जगह हो, सभी सिद्ध क्षेत्र है। मगर जो स्थान कुछ विशिष्ट है और आजकल भी ध्यान करनेके लायक है और जहाँ कुछ वातावरण विरक्तिका अधिक मिलता है। वहाँसे मोक्ष अधिक गए है। और ऐसे स्थानमें अपने ध्यानकी भावना जगती है, इसलिए वे क्षेत्र अधिक प्रसिद्ध हुए। तो सभी प्रकारके भूमि स्थानोंमें इसको रागद्वेष न हो वह क्षेत्रसामायिक है। **कालसामायिक**— समय पर सामायिक हो और अन्य समयों में कालके प्रति समता, वर्षाऋतु, शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु इन सब कालोंमें जो सुहावना, असुहावना मानते है वह सामायिकके खिलाफ बात है, कोईसा भी समय हो सबमें समता परिणाम रहना, रागद्वेष न जगना। जब तेज गर्मी पड़ती है तो इस गर्मीके प्रति एक मनमें घृणा सी होती है कि यह गर्मी सबसे बुरी चीज है। ऐसा भाव कालसामायिक वालके नहीं हुआ करता। जो है सो जान रहे है, वहाँ रागद्वेष नहीं। **भावसामायिक**— अनेक प्रकारके भाव कर्मोदयसे जगते है, उन परभावोका ज्ञाता दृष्टा रहना, उनमें रागद्वेष न जगना, सुखके साधन मिलें, दुःखके साधन मिले और उससे साता असाताका परिणाम जगे तो उनसे निराले अपने अविकार ज्ञानस्वरूपको ही देखना, उनमें सुहावना असुहावनाकी बात न आना, यह भाव सामायिक है तो इस प्रकार सामायिकके बारेमें विशेष वर्णन है इस प्रकीर्णकमें।

(66) अड्डबाहामें चतुर्विंशतिस्तव व वन्दना नामक प्रकीर्णकका विषय— दूसरा प्रकीर्णक है चतुर्विंशतिस्तव, अर्थात् 24 तीर्थकरोकी स्तुति करना, इसमें 24 तीर्थकरोके नामसे यह प्रकीर्णक क्यों बना कि प्रत्येक चतुर्थ कालमें भरत औश्र ऐंरावत क्षेत्रमें 24-24 तीर्थकर होते है। अबसे पहले अनन्ते 24 तीर्थकर हो चुके, क्योंकि चतुर्थ काल अनन्ते बीत चुके। और बीतेंगे, तो तीर्थकर चूँकि मार्गदर्शक है इसलिए भक्तिमें उनका प्रधानतासे नाम होता है। उनकी भक्ति की जाती है। तो इसमें 24 तीर्थकरोके गुण महिमा विधि आदिक का वर्णन है। तीसरा प्रकीर्णक है **वन्दना**। वदना और स्तवनमें कोई अधिक अन्तर नहीं है। स्तवन करे तो वहाँ भी वन्दना की जाती है। वन्दना करे तो वहाँ भी स्तुति की जाती है। स्तुति में गुणानुवादका अधिक प्रकरण होता है। और वन्दना समय-समयपर होता। वन्दना और नमस्कारकी मुख्यता है, पर भीतरमें यह भला है, कल्याणमय है, ऐसा भाव रहता है। अन्तर्जल्पसे स्तवन चलता है तो विषयमें अधिक फर्क नहीं, किन्तु 24 तीर्थकरोको सम्मिलित स्तवन वन्दन तो स्तवन कहलाता है और एक-एकका नाम लेकर मैं इनकी वन्दना करता हूँ, अमुक तीर्थकरकी वन्दना करता हूँ इस तरह अलग-अलग वन्दना करना इसे कहते है वन्दना किसी एक तीर्थकरके आश्रय वन्दना चल रही है।

(67) अड्डबाहामें प्रतिक्रमण व वैनयिक प्रकीर्णकका विषय — चौथा प्रकीर्णक है प्रतिक्रमण। इसमें 7 प्रकारके प्रतिक्रमणोका वर्णन है। रात्रिमें कोई दोष लगा, उसका प्रतिक्रमण करे याने प्रायश्चित ले, शुद्धि करे, दिनमें दोष करे उसका प्रतिक्रमण करे, 15दिनमें फिश्र प्रतिक्रमण करे, रोज-रोज प्रतिक्रमण करके भी प्रत्येक 15वें दिनमें सामूहिक प्रतिक्रमण करे पंद्रहो दिनका। फिर चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, चार-चार माहका प्रतिक्रमण फिर वार्षिक प्रतिक्रमण, वर्षायोग प्रतिक्रमण। चातुर्मासमें बैठे उठे वह प्रतिक्रमण, उत्तमार्थ प्रतिक्रमण। जब अन्तिम समय हो, मरणकाल हो तो सारी जिन्दगीके दोषोकी शुद्धि पुनः करे। और वह प्रतिक्रमण किस विधि से किया जाय, उन विधियोका वर्णन इसमें है। 5वाँ प्रकीर्णक है **वैनयिक**— इसमें 5 प्रकारके विनयोका वर्णन है। सम्यग्दृष्टिका विनय, सम्यग्ज्ञानी का विनय, सम्यक्चारित्रवानका विनय, तपस्वियोका विनय और उपचार विनय, इन गुणोका भी विनय। तो गुणोके प्रति अपना झुकाव होना यह उद्देश्य होता है, तो इस विनय का वर्णन इस प्रकीर्णकमें है।

(68) अड्डबाहामें कृतिकर्म, दशवैकालिक व उत्तराध्ययन प्रकीर्णकका विषय— छठा प्रकीर्णक है कृतिकर्म। इसमें कर्तव्यका वर्णन है, वंदना करना, प्रतिक्रमण करना, अरहंत आदिककी भक्ति करना, स्वाध्याय करना आदिक जो जो भी क्रियाये है उन क्रियावोका वर्णन कृतिकर्ममें है। अष्टान्हिकामें कौनसी भक्ति करे, स्वाध्यायके समय कौनसी भक्ति करें, दीक्षाके समय कौनसी भक्ति की जाय, ऐसे प्रत्येक अवसरपर कब कौनसी भक्ति क्रिया की जाती है, उसका वर्णन है। 7वाँ प्रकीर्णक है दशवैकालिक। इसमें मुनियोका आचरण, आहार शुद्धि, किस तरहसे आहार होना, यह सब वर्णन है। 8वाँ प्रकीर्णक है उत्तराध्ययन। इसमें परीषह उपसर्ग सहनेका विधान बताया गया है। वे भाव भी दर्शाये गए हैं कि परीषह उपसर्ग आयें तो किस तरहकी भावना अन्दरमें करें कि उस उपद्रवमें उसके प्रति रागद्वेष न जगे। तो परीषह और उपसर्गके सहनेका विधान इस 8वें प्रकीर्णकमें है।

(69) अड्डबाहामें कल्पव्यवहार, कल्पाकल्पव्यवहार व महाकल्प प्रकीर्णकका विषय— 9 वाँ प्रकीर्णक है कल्पव्यवहार। इसमें यह बताया गया है कि मुनियोको कौन सा काम करना योग्य है और कौन सा अयोग्य है। योग्य आचरण करनेका और अयोग्य आचरण के त्यागका इसमें विशेष वर्णन है और कदाचित् अयोग्य पदार्थका सेवन हो जाय, अयोग्य काम बन जाय तो उसका प्रायश्चित्त शुद्धि हो सकेगा। कोई पुरुष किसी व्रत नियमसे चिग जाय तो उसका यह परिणाम नहीं कि उसका पतन ही हो गया। प्रायश्चित्तसे शुद्धि हो सकती है। पर जिसको रोज-रोज ही दोष लगानेकी आदत है उसपर प्रायश्चित्तका असर ही नहीं होता, इसलिए वह अनाचार कहलाता है। 10वाँ प्रकीर्णक है कल्पाकल्प। इसमें वस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा योग्य अयोग्यका वर्णन है। कौनसा द्रव्य योग्य है कौन अयोग्य है, कौनसा क्षेत्र रहनेके योग्य है अथवा अयोग्य है आदिक वर्णन इस प्रकीर्णकमें है। 11वाँ प्रकीर्णक है महाकल्प। जो मुनि है, जिनकल्पी है, एकाकी बिहारी है उन मुनियोका प्रतिमायोग, रात्रिभर निश्चल खड़े रहना, वर्षायोग, शीतका योग अनेक प्रकारके योगोका प्ररूपण है। और, जो स्थविरकल्पी मुनियोकी प्रवृत्ति है उसका वर्णन है। मुनि दो प्रकारके होते हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनकल्पी वे कहलाते हैं जिनका बहुत ऊँचा संहनन है बड़े ऊँचे ज्ञानी हैं, जिनका बड़ा ऊँचा अभ्यास है। जिनके बारे में डिगनेकी कोई सम्भावना नहीं है। वे अकेले रहते हैं और निरन्तर आत्मध्यानसे रहते हैं वे जिनकल्पी मुनि कहलाते हैं। उनका विधान प्रतिमायोग त्रिकालयोग आदिक है। याने ऊँचा तपश्चरण। और स्थावर कल्पी मुनि वे कहलाते हैं जो अकेले विहार नहीं करते, संगमें रहते हैं और आचार्यके आदेशानुसार सब प्रवृत्तियाँ करते हैं। दोष लगे तो प्रायश्चित्त देते हैं वे स्थविर कल्प है। तो इस प्रकीर्णकमें जिनकल्पीको क्या करना चाहिए, स्थविरकल्पीको क्या करना चाहिए, यह सब वर्णन है।

(70) अड्डबाहामें पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषिद्धिका प्रकीर्णकका विषय— 12वाँ प्रकीर्णक है पुण्डरीक। इसमें यह वर्णन है कि वे कौनसे कारण हैं, कौनसे परिणाम हैं जिनसे यह जीव चार प्रकारके देवोंमें उत्पन्न होता है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। इनमें उत्पन्न होनेके योग्य क्रिया व साधनाका वर्णन है। 13वाँ प्रकीर्णक है महापुण्डरीक इसमें यह बताया गया है कि जो बड़ी ऋद्धिके धारकदेव है, इन्द्र है उनमें उत्पन्न होनेके क्या परिणाम है, क्या कारण है, क्या साधन है, कैसी प्रवृत्ति हो, कैसा व्रत नियम हो, जिसके फलमें उत्कृष्टदेव होता है। 14वाँ प्रकीर्णक है निषिद्धिका, इस प्रकीर्णक में अनेक प्रायश्चित्तोका वर्णन है, निषेधको याने त्यागका। दोषोकी कैसे शुद्धि हो, उन सब

उपायोका वर्णन है। यह पूरा प्रायश्चित शास्त्र है। तो इस तरह ये 14 प्रकीर्णक है जो अंग बाह्य कहलाते हैं। समस्त अंग बाह्यमें 80108175 अक्षर है, जो अंग बाह्य कहलाते हैं।

(71) श्रुतज्ञानकी अनेक श्रेणियाँ— द्वादशांग वर्द्धअंगबाह्य श्रुतज्ञानका सम्पूर्ण रूप है। अगर किसीमें थोड़ा भी श्रुतज्ञान हो, अत्यन्त कम श्रुतज्ञान होता तो उनकी श्रेणियाँ बनायी गई है कि सबसे छोटा श्रुतज्ञान पर्याय श्रुतज्ञान कहलाता, जो कि अक्षरका अनन्तवाँ भाग श्रुतज्ञान है। एकेन्द्रिय आदिकके भी श्रुतज्ञान होते हैं और श्रुतकेवलीके भी श्रुतज्ञान होते हैं, पर उनमें तो बड़ा अन्तर है। तो श्रुतज्ञानकी सबसे जघन्य श्रेणी पर्याय वाला श्रुतज्ञान कहलाता है। उससे अधिक अक्षरज्ञान, उससे अधिक पद, फिर संघात, फिर प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राकृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व ऐसे ये बढ़ते जाते हैं और चल करके यह पूर्ण श्रुतज्ञान, यह द्वादशांग और अंगबाह्य यें सब मिलकर इतने विशाल होते हैं। श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—(1) अक्षरात्मक, (2) अनक्षरात्मक। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक होता है, किन्तु इससे लोकव्यवहार व उपदेशादिकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद है। अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें अपुनरुक्त अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के संख्यात भेद है जो कि एक ही प्रमाण है यान संख्या—1844674407309551615 है। अंगप्रविष्ट याने द्वादशांगमें तथा अंगबाह्यमें सब अपुनरुक्त अक्षर एक ही प्रमाण है। पुनरुक्त अक्षरकी संख्याकी कोई नियम नहीं कितने ही हो जावें। अक्षरात्मक श्रुतज्ञानमें सबसे कम क्षयोपशम वाला श्रुतज्ञान पर्यायज्ञान है यह सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तके होता है। यह इतना छोटा ज्ञान है इसके आवरण पर्यायावरण प्रकृतिका इसपर प्रभाव नहीं होता, किन्तु त्वरित आगेके श्रुतज्ञानमेंयाने पर्यायसमास ज्ञानमें पर्यायववरणका प्रभाव है। यदि पर्यायज्ञान भी न रहे तो जीव ज्ञानरहित हो जायगा सो होता नहीं। पर्यायज्ञानसे अनन्तगुणा पर्यायसमास ज्ञान है, इससे अनन्तगुणा अक्षरज्ञान है, इससे अनन्तगुणा अक्षरसमास ज्ञान है, इससे कई गुणा पदज्ञान है। इससे कई गुणा पदसमास ज्ञान है, इससे अधिक संघातज्ञान है, इससे अधिक संघातसमास ज्ञान है। इससे अधिक प्रतिपत्तिक ज्ञान है, इससे अधिक प्रतिपत्तिकसमास ज्ञान है, इससे अधिक अनुयोग ज्ञान है, इससे अधिक अनुयोगसमास ज्ञान है। इससे अधिक प्राकृतत्राकृत ज्ञान है, इससे अधिक प्राकृतप्राकृतसमास ज्ञान है। इससे अधिक प्राभृत ज्ञान है, इससे अधिक प्राभृतसमास ज्ञान है। इससे अधिक वस्तु श्रुतज्ञान है, इससे अधिक वस्तुसमास श्रुतज्ञान है। इससे अधिक पूर्व श्रुतज्ञान है, इससे अधिक पूर्वसमास श्रुतज्ञान है। इस प्रकार वृद्धि होत—होते समस्त आगमका श्रुतज्ञान होता है।

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च कुणदि।

सूर्इ जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि।। 3।।

(72) आगम वचन मननसे भवोत्पादका विनाश — जो पुरुष सूत्रके विषयमें जानन हार है याने आगमका ज्ञाता है वह पुरुष अपने संसारकी उत्पत्तिका नाश करता है। जैसे कि सूर्इ अगर सूत्र रहित है, सूत्र कहते हैं डोराको तो सूर्इ गिर जायगी, नष्ट हो जायगी, मिलेगी नहीं, और सूर्इ अगर सूत्रमें लगी हुई है तो वह गिरती नहीं है, ऐसे ही जो मनुष्य सूत्रमें लगा हुआ है वह नष्ट नहीं होता। वह हमेशा अपने को अपनेमें देखता रहता है और जिस मनुष्यको सूत्रका ज्ञान नहीं, सूत्रमें पिरोया हुआ मनुष्य नहीं वह मनुष्य नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो आगमका जाननहार है वह तो संसारसे पार हो जाता है और जो आगमको नहीं जानता वह संसारमें रूलता रहता है। सूत्र कहते हैं उस वाक्य प्रबंधको जिसके द्वारा जीव अपने यथार्थ तत्वको ढूँढ सके। यदि यह आगम न होता तो आत्माका अपनेको कैसे पता पड़ता? आत्मा है खुद ही, मगर आगमके बोध बिना तो

आत्माका पता नहीं पड़ सकता। बचपनमें सीखा, बादमें सीखा और अनुभव होनेपर जाना तो वह सब आगमकी देन है। जगतके जीवोपर तीर्थकर अरहंत भगवानका कितना बड़ा उपकार है। सत्य उपकार की जिसकी वाणीमें परम्परासे आये हुए आगमको जानकर यह जीव अनन्त दुःख मेट लेता है। अज्ञानमें अनन्त दुःख है, केवलज्ञान होनेपर अनन्त सुख है। तो अज्ञान रहनेपर अनन्त दुःख है, कुछ लेन नहीं देन नहीं, सारे पदार्थ निराले है, किसीका किसीसे सम्बन्ध नहीं। सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए है। एक यह मिथ्याबुद्धि बना लिया कि ये मेरे कुछ है, जहाँ सम्बन्ध माना किसी भी चेतन औश्र अचेतन पदार्थसे, बस वैसे ही इसको आकुलता होने लगती है। जिसको आकुलता न चाहिए, जन्म-मरणसे मुक्ति चाहिए उसका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि अपने सहज अविकार स्वरूपकी पहिचान करे।

(73) अपने सहज स्वरूपका अनुभव होनेपर आत्मशौर्यका अनुभव— जैसे कोई तुरन्तका जाया हुआ शेरका बच्चा गड़रियाके द्वारा पकड़ा गया, उसका पालन-पोषण भेडघ-बकरियोंके बीचमें हुआ। तो वह शेरका बच्चा अपनेको भी उन भेड़-बकरियों जैसा ही समझता रहा, जो चाहे जैसे चाहे उसके कान मरोड़ दे, उसे पीट दे। वह बेचारा बहुत दिनों तक अपनेको बड़ा दुःखी अनुभव करता रहा। एक दिन कहीं जंगल में उसे अपनी ही जातिका शेर दिख गया, उसकी दहाड़को सुनकर उसे बोध हो गया कि अरे मैं तो इस शेरकी जाति का हूँ, मैं तो शेर हूँ। भेड़ बकरी नहीं, बस उसमें शूरता प्रकट हो गई और दहाड़ देकर छलांग मारकर वहाँसे निकल गया। उसे अब रोकने वाला कौन? ऐसे ही जब तक इस जीवको ऐसा मिथ्या श्रद्धान रहता है कि मैं तो संसारका एक प्राणी हूँ। मैं तो ऐसा ही साधारणसा मनुष्य हूँ, मुझे तो ऐसा ही करना चाहिए। मैं ऐसा ही इनका सम्बन्धी हूँ, तब तक यह बिडम्बनारूप बनता है और जैसे ही प्रभुका स्वरूप निरखा, अरहंतके गुण समझा, उसके साथ अपने गुण समझा तो उसमें एक शूरता प्रकट हुई कि ओह मैं क्या इन कल्पनाओमें फंस रहा हूँ, बस उन कल्पनाओसे वह मुक्त हो जाता है। है क्या? मोह करे तो अकेला, मोह न करे तो अकेला कोई मोह करने से दुकेला नहीं हो जाता। अब यह अकेला बन गया। यह तो स्वरूप ही है कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र सत् है, वह एक दूसरेका नहीं है। तो जब तक मिथ्याज्ञान रहता है तब तक जीव संसारमें रूलता है और इस मिथ्याज्ञानको नष्ट होनेका उपाय है आगमका बोध। कोई मौखिक समझा रहा तो वह भी तो आगमकी किरण है और कोई लिखा हुआ पढ़ रहा तो वह भी आगमकी किरण है। बोध बिना यह जीव इस तरह नष्ट हो जाता, पतित हो जाता जैसे कि डोरेके बिना रहने वाली सूई यदि डोरेसे गिर जाय तो फिर उसका पता नहीं पड़ता उसे बहुत-बहुत ढूँढना पड़ता फिर भी मिलना मुश्किल हो जाता और यदि सूई सूत्र सहित है तो उसका तुरन्त पता हो जाता कि यह है सूई। तो ऐसे ही जो सूत्र सहित पुरुष है मायने आगमके ज्ञानमें रहने वाला पुरुष है तो वह आगमके द्वारा अपने आत्माको पकड़ लेगा। तो सूत्रका जानना कल्याण चाहने वाले पुरुषोको अतीव आवश्यक है।

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे।

सच्चेयण पच्चक्खं परसदि तं सो अदिस्समाणो वि।। 4।।

(74) ससूत्र पुरुषके आत्मदर्शन — पूर्व गाथामें सूई (सूची) का दृष्टान्त बताया है कि जैसे जो सूई सूत्र रहित है वह तो नष्ट हो जाती और सूत्र सहित है वह पकड़ में आ जाती इसी तरह जो पुरुष सूत्र सहित है सो तो नष्ट होता नहीं, ज्ञानमें रहता है, संसारमें मौजूद है यह जीव तो भी अगर सूत्र सहित है, आगमका सहारा लिए हुए है तो वह नष्ट नहीं होता, वह न दिखने पर भी अपने आपकी दृष्टिमें रहता है। परोक्ष रहो, सुसम्बेदन

प्रत्यक्ष रहो। कोई कहे कि आत्माको आँखसे दिखा दो तो मानें, तो भला बताओ उसे आँखो दिखाया जा सकेगा क्या? अरे वह तो एक चिन्तन द्वारा अपने ज्ञानबलसे ही अपने आपकी जानकारीमें आयेगा। गजब कितना हो रहा कि यह खुद है, खुद ही चेष्टाये कर रहा है, खुद ही तर्क कर रहा है और खुष्टखुदके ज्ञानमें नहीं आ रहा। सो जब एक इन्द्रिय द्वारा ज्ञान करनेकी विधि बन रही है तब तक आत्माका प्रत्यक्ष स्पष्ट ज्ञान नहीं होता फिर भी आगमका कोई सहारा लेकर तब तो इसको आत्माका ज्ञान होता है और जब ज्ञानमें ज्ञानमें ज्ञान ही बस रहा हो तब सुसम्बेदन प्रत्यक्षसे जाना जाता है, तो आत्माके परिचयमें मूल सहारा तो आगमज्ञानका है, इसलिए आगम विषयक बोध जरूर होना चाहिए।

सूक्तत्थं जिमभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं ।

हंयाहेयं चः तहा जो जाणइ सो हु सद्धिटी ॥ 5 ॥

(75) हेयोपादेयविधिसे सूत्रार्थ व सप्ततत्वके ज्ञाताके सदृष्टित्व— सूत्रका अर्थ है वह जिनेन्द्र देवका बताया है। अर्थकर्ता तो सर्वज्ञदेव है और शब्दोंमें गूँथकर जो बनाया गया उसे कहते हैं ग्रंथ। ग्रन्थकता गणधरदेव है, सो आगममें जो जीवादिक तत्वोका वर्णन है उसे इस प्रकार जानना चाहिए कि इसमें हेय क्या है और उपादेय क्या है। जैसे जीव और अजीव ये दो तो मूल तत्व है, इन्हीके आधार पर तो आस्त्रवं, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष बना। सो जीव और अजीव तो एक ज्ञेय पदार्थ है, जान लिया कि यह जीव है, यह अजीव है और उसमें भी अगर उपादेय और हेय बुद्धि करनी है उसमें जो अपना अविकार चैतन्यस्वरूप है वह तो उपादेय है और इसमें चेतनाके अतिरिक्त जो भी भाव आते हैं वे सब हेय हैं। यह बात अपने आप तत्वमें आ जायगी, पर मूल बात यह श्रद्धामें लाना है कि अपना जो अविकार चैतन्यस्वरूप है वह ही दृष्टिमें रहे, उसका ही आलम्बन हो तो संसारसे पार हो सकते हैं। धर्मके नाम पर लोग नाना प्रकारकी चेष्टाये करते हैं, पर उन चेष्टाओ धर्म नहीं मिलता। वे चेष्टाये एक बाह्य साधन है ताकि इसका मन ऐसा बन जाय कि उस वातावरणमें रहकर यह धर्म पा ले, पर वह स्वयं धर्म नहीं है। जितनी भी क्रियाये हैं और यहाँ तक कि पूजाकी क्रियाये, अन्य—अन्य भी क्रियाये ये स्वयं साक्षात् धर्म नहीं है, मगर वह एक ऐसा सुन्दर वातावरण है, एक साधन है, द्रव्य सजाया, खड़े हुए द्रव्य चढ़ा रहे, कुछ समय होगा कि उस बीचमें इस पुरुषका ज्ञान जगे और अपने अविकार चैतन्य स्वरूपपर दृष्टि दे, धर्म हो गया, इसीलिए तो यह व्यवहारधर्म कहलाता। धर्म तो अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि, उसका ही स्थिर होना यह है धर्म, पर इसके लिए जो साधन बने हैं वे व्यवहारधर्म कहलाते हैं तो जीव और अजीव ये दो तत्व तो मूल है और ये ज्ञेय तत्व है। इनका स्वरूप जान लें।

(76) कर्मविपाकोदय व प्रतिफलनरूप आस्त्रतत्वकी विवेचना व हेयता— आस्त्रवतत्व हेय है, बंध तत्व हेय है, आस्त्रव मायने जीवमें से विकार उखड़ना यह तो है भावास्त्रव और उस जीवमें जो भाव उखड़ते सो उस कालमें उसका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्मोंमें कर्मत्व आ जाना यह है द्रव्यास्त्रव। बातें दो जगह चलती हैं—कर्मोंमें और जीवमें। कर्ममें कर्मकी बात चलती है और जीवमें जीवकी बात चलती है। और जो बात कर्ममें चलती है वैसी ही बात जीवमें चलती है। जैसे दर्पणके आगे कुछ दूरी पर पीला कपड़ा रख दिया तो उस दर्पणमें पीला फोटो आ गया। अब वह पीलापन दो जगह है—कपड़े में और दर्पणमें। मगर कपड़ेमें तो कपड़ेकी पीलाई है और दर्पणमें दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। दर्पण में पीलाई है ही नहीं। दर्पण तो स्वच्छ है, पर दर्पणमें स्वच्छताका विकार आया तो विकारके रूपमें पीलाई है। कहीं दर्पणमें पीला रंग नहीं है।

पीला रंग तो उस कपड़े में है और यह पीलापन दर्पणमें फोटो के रूपसे है, प्रतिबिम्ब रूप से है। स्वच्छताके विकार रूप से है। तो दर्पण की तरह तो है यह आत्मा और पीले लाल आदि कपड़े की तरह है व पुद्गलकर्म। तो रागद्वेषका अनुभाग असलमें तो उस पुद्गलकर्ममें है। वे रागद्वेष जीव में नहीं है, पर जीवमें स्वच्छताका विकार इस ढंगसे है कि उसमें रागद्वेषका भाव बना।

(77) कर्मविपाक और जीवदशा— अब देखिये मुख्य रागद्वेष तो जीवका ही माना जाता। कितने ही लोग तो यह बात सुनकर कुछ उछल जायेगे कि कही रागद्वेष कर्ममें भी होते है क्या? जीवमें ही मान रहे बहुतसे लोग कि रागद्वेष तो जीवमें ही होते है, कर्ममें रागद्वेष कहाँ धरे ? मगर रागद्वेष प्रकृति, रागद्वेष अनुभाग ये तो जीवमें नहीं आते। जीवमें कर्म सागरोसे बंधे पड़े हुए है। जिस समय वे कर्म बंधे थे उसी समय कर्मोंमें अनुभाग बन गया, प्रकृति बन गई थी और वह प्रकृति, वह अनुभाग वहाँ सत्तामें पड़ा है। जिस कालमें उदय हुआ मायने उसमे से अनुभाग खिल उठा सो अनुभाग तो फैला वह कर्ममें, मगर उसका सन्निधान पाकर चूँकि जीव उपयोगमय है सो उपयोग में प्रतिफलन आ गया। अब सारी विडम्बना जीवको हुई। कर्म तो अचेतन है। उसका बिगाड़ क्या, पर जीवको एक विडम्बना बन गई। जैसे कोई दो आदमियोका विवाद हो जाय, एक तो हो सज्जन बड़ा पुरुष और एक आ जाय दुष्ट पुरुष। तो दुष्ट पुरुष सोचता कि मेरा क्या बिगाड़ है, इज्जत तो इसकी बिगड़ेगी? तो यों ही कर्ममें रागद्वेष उदित हुए सो उससे कर्मका क्या बिगाड़ है? बिगाड़ तो इस जीवका है और देखो इस जीवका ऐश्वर्य कि यह जीव इतना बिगाड़ गया तो भी इसमें कैसा ऐश्वर्य पाया जा रहा कि वह रागद्वेषके रूपसे इस तरह चेत रहा है। अनुभव कर रहा है। तो जैसे मूलमें लाल पीला तो कपड़ा है, दर्पणमें तो फोटोके रूपसे आया है, ऐसे ही रागद्वेषादिक अनुभाग तो मूलमें द्रव्यकर्ममें है और जीवमें तो प्रतिफलनके रूपसे आया है। जीवमें आया तो है प्रतिफलनके रूपसे, मगर यह मुख्य बन गया, विडम्बना बन गई और इस जीवका बिगाड़ बन बैठा। तो जीवमें रागद्वेष आना सो जीवमें भावाश्रव है और पुद्गलकर्ममें कर्मपना आना जो कि बंधके समय आया करता है वह द्रव्याश्रव है। यह आश्रव हेय है, यह संसार, यह जन्म मरण जो कुछ भी विडम्बना चल रही है वह सब आश्रवके कारणसे चल रही है।

(78) बन्धतत्वकी हेयता— आश्रव तत्व हेय है व बंधतत्व भी हेय है। बंधके मायने बँध जाना। जीवमें उसका संस्कार होना अथवा उस जातिके विभावोका निरन्तर उदय चलना यह तो है जीवमें बंध और कर्मोंमें उस कर्मपनेका बँध जाना कि यह तुम्हारा करोड़ सागर तक ये कर्म इस जीव के साथ रहेंगे, कार्माणवर्गणामें कर्मपना रहेगा, यह द्रव्यबंध है। यह बंधतत्व भी हैंय है। आश्रव और बंधके कारण यह जीव मद वाला हो रहा है।

(79) सम्वर तत्वकी उपादेयता— आश्रव बंध हेय है और तब सम्वर निर्जरा उपादेय। कब तक उपादेय? जब तक कि इसको मुक्ति प्राप्त नहीं। सिद्ध होनेके बाद क्या कर्मपना आता है, पर आश्रवका प्रतिद्वन्द्व रूपसे देखा तो यह सम्वर तत्व संसार अवरस्था में चलता है ज्ञानीके। संवर मायने कर्मपना रूक जाना, पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओमें कर्मपना न आ सके, यह है द्रव्य सम्वर और अपने आत्मामें यह अशुभभाव न आ सकना यह है भावसम्वर। यह सम्वर तत्व उपादेय है।

(80) निर्जरातत्वकी उपादेयताकी मीमांसा— जब तक सम्वर तत्व नहीं प्राप्त होता तब तक मोक्षमार्ग नहीं मिलता, और जो संवरपूर्वक निर्जरा होती है वह मोक्षमार्ग का निर्जरा तत्व है वह निर्जरा कथंचित् उपादेय है। सर्वथा उपादेय तो व्यवहारसे मोक्ष कहा

और निश्चयसे अविकार निज चैतन्यस्वरूपमें निस्तंरग रम जाना। तो अपने आपका जो अविकार स्वरूप है वह सर्वथा उपादेय है। हर सम्भव प्रयत्नोसे हमको अपने इस सहजस्वरूपकी और आना है। तो निर्जरा तत्व भी उपादेय हो गया जो पहले बाँधे हुए कर्म है वे झड़ रहे हैं, उनका कर्मत्व खत्म हो रहा है। पौद्गलिक कार्माणवर्गणायें कोई वस्तु है, जैसे कि आँखों से दिखने वाले ये हैं। कैसे झड़ते हैं? वह एक मलका ढेर है, बहुत लम्बा विशाल कितने ही करोड़ सागरोंकी स्थितिका। तो पहले तो कुछ समयका कर्म उस स्थितिसे हट-हटकर उससे पहलेकी स्थितिमें आता है फिर वे अगले-अगले कर्म हट-हटकर पहले स्थितिमें आते रहते हैं और ऐसी ही सारी स्थिति के कर्म हटकर कुछ पहली स्थितिमें हटकर आते हैं, फिर अपनी स्थिति पाकर कर्म दूर हो जाते हैं। तो निर्जरा तत्व भी इस जीवके लिए उपादेय तत्व है, पर सर्वथा उपादेय यों नहीं कि यह दृष्टि और लक्ष्यका विषय नहीं है। लक्ष्य तो अपना अविकार चैतन्यस्वरूप है।

(81) मोक्ष तत्वकी उपादेयता- निर्जरा जब बन जाती है पूर्णतया तो संसार अवस्थामें रहने वाले जीवको मुक्तिकी जरूरत है, तब ही यह दुःख होगा। तो उसके लिए प्रयोजन भूत सात तत्वोंका परिज्ञान करना आवश्यक है। यह सब आगमके बिना हमको कहाँ से मिलता? सो तब ही अपने अंतस्तत्व को जानता है तो वह प्रकट सम्यग्दृष्टि जीव है। सम्यग्दर्शन होनेपर इस जीवको फिर इस संसारमें कुछ अपना दिखानेकी उमंग नहीं रहती नहीं दिखाता है। उसके तो अद्भुत प्रसन्नता उत्पन्न होती है। न किसीको अपना दिखावा करना और न किसीकी कोई चेष्टासे इसमें क्रोध जगना। कोई अपराध भी करे तो यहभी क्षमा कर देता है। इसकी निरन्तर धर्मकी और दृष्टि रहती है। धर्मात्माजनोंमें अनुराग रहता है। संसारके भावोंके भावोंसे यह दूर रहता है। सब जीवोंपर दया का भाव है, क्योंकि उसने सबका स्वरूप अपने स्वरूपकी तरह समझ पाया है इसलिए सदा अनुकम्पा रहती है। आगममें परोक्षभूत तत्वोंको जैसे बताया गया है उसमें इसको संदेह नहीं होता, जैसा पुत्रको माँ या पिता कोई बात बतावे तो वह पुत्र वैसाही श्रद्धान करता है। तो ऐसे ही आगम जिन-वाणी जैसा हमको बताते हैं सम्यग्दृष्टिजन उस ही प्रकार श्रद्धान करता है। नरक स्वर्ग लोक रचना सब कुछ उसे बिल्कुल सच दिख रही है जैसा आगमका प्रतिपादन है, तो इस तरह जो 7 तत्वोंका श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि है, और यह श्रद्धा मिलेगी आगमके श्रद्धानसे।

जं सूतं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो ।

तं जाणिरुण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥ 6 ॥

(82) जिनोक्तसूत्रमें परमार्थ व व्यवहारका प्रतिपादन- यह सूत्र पाहुड ग्रन्थ है, इसमें सूत्रका वर्णन है अर्थात् आगम, जो द्वादशांग और अंगबाह्य रूप है, इस सूत्रके सहारे ही मनुष्य अपने आपकी खोज कर सकता है। इस सूत्रका सहारा ही न रहे तो अपनी खोज नहीं कर सकता। सूत्र मायने डोरा भी है। तो जैसे डोरेका सहारा न रहे तो सूई नहीं मिल सकती है। बड़ा विरल काम है और डोरेका सहारा रहे याने सूईमें डोरा पिरोया रहे तो सूई गायब नहीं होती, वह मिल जाती है, ऐसे ही सूत्र आगम इनका सहारा रखे तो आत्माके दर्शन हो सकते हैं और इनका आश्रय छोड़ दे और तदवा मनकी कल्पनासे निहारे तो इसमें आत्माके दर्शन नहीं होते। वह सूत्र जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा गया है सो व्यवहाररूप और परमार्थरूप ह। उसको जानकर योगी पुरुष सुख पाते हैं और कर्ममलको दूर करते हैं। जैनागम स्याद्वादसे मुद्रित है, क्योंकि स्याद्वाद बिना वस्तुका पूरा परिचय नहीं होता। तो निर्णयमें तो निश्चय व्यवहार सब काममें आता है, पर कल्याणकी दिशामें जब बढ़ते हैं तो

व्यवहार गौण होकर निश्चय मुख्य होता। फिर निश्चय गौण होकर शुद्ध-नय रह जाता, फिर किसी भी नयका विकल्प नहीं रहता, अनुभव मात्र दशा होती है। परमार्थ और व्यवहार। परमार्थ का तो अर्थ यह है कि परम अर्थ। यथार्थ जैसा सहजस्वरूप है उस रूपकी निरख, और व्यवहारका अर्थ है कि सहज स्वरूपके अतिरिक्त उसके परिचय के लिए अन्य-अन्य विषय, उनका प्रतिपादन व्यवहार कहलाता है। व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश नहीं बन सकता। व्यवहारके बिना परमार्थका और किसीको निर्देश नहीं किया जा सकता इसलिए व्यवहार उपकारी है, किन्तु वह परमार्थके प्रतिपादनके लिए ही है। और यह व्यवहार ऐसा उपकारी नय है कि जैसे माँ अपने प्राण गवाँ कर भी अपने बच्चे की रक्षा करती है इसी तरह व्यवहारनय अपना विनाश करके निश्चयको उद्योतित करता है।

(83) आगमकी सर्वांगरूपता व अध्यात्मकी आगमांशरूपता- आगम चार अनुयोगोमें है। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि यह आगमकी बात है, यह अध्यात्मकी बात है, ऐसे जैन शासनमें दो भेद नहीं पड़े हैं कि यह तो आगम है और यह अध्यात्म है, किन्तु आगम और अध्यात्मका अर्थ क्या है कि जो सर्व वर्णन है और उस आगमके वर्णन में से केवल आत्माका ही वर्णन होना वह अध्यात्म है। तो अध्यात्म आगममें गर्भित है। आगम अलग वस्तु हो, अध्यात्म अलग वस्तु हो ऐसा नहीं है किन्तु अध्यात्म भी है और इसके अतिरिक्त सर्व प्रकारका वर्णन भी है। आगममें सामान्य से निश्चय व्यवहारसे सब तरहका वर्णन है। आत्माका, पुद्गलका, धर्मादिक द्रव्योका, अशुद्धका, शुद्धका सबका वर्णन है, उन वर्णनो में से केवल आत्माका वर्णन होना अध्यात्म है और उसमें सामान्यतया वर्णन होना सो निश्चय है और विशेषतया वर्णन होना सो व्यवहार है, क्योंकि सामान्य वर्णनमें अभेद रहता है, विशेष वर्णनमें भेद हो जाता है। तो ऐसे सामान्य विशेष दोनों रूपसे आत्माकी ही बात का निरूपण होना अध्यात्म है। तो इस प्रकार जिनशासनका बोध करें।

(84) आगमकी आज्ञाहेतुद्वयसाध्य श्रद्धा- आगमविषयक दूसरी बात है आज्ञा और हेतुकी। इन दोनोके आश्रयसे आगमका अभ्यास करे, केवल हेतुसे ही ज्ञान बनावे तो वह आगमसे बाह्य बात है। हेतू उसका सही है जो आगमकी श्रद्धाके साथ हेतूवोसे जुदा कर रहा है और जिन विषयोमें हेतू न चले, युक्ति न चले वह आज्ञासिद्ध कहलाता है। तो आगमका सहारा लेना प्रत्येकको आवश्यक है। कोई युक्ति से सिद्ध करे उन सात तत्वोको, एक तो आगम का सहारा लिए बिना युक्तिसे भी सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ उसने पहले आगम से पढ़ा है, उसके बारेमें मनन किया है तब वह युक्ति और हेतुवोको अब सिद्ध कर रहा है। कोई आगमके बिल्कुल विपरीत रहे और सोचे कि आगम क्या, उससे मुझे कुछ मतलब नहीं, मैं तो युक्तियोंसे निकालता हूँ तो यह उसका एक स्वच्छन्द वचन है और आगमकी श्रद्धाका उसने अपमान किया है। आगमकी श्रद्धा रखते हुए युक्तियोंसे सिद्ध करना यह है रीति और जिन वचनोमें युक्ति न चल सके उनको आज्ञासे मानना, जैसे स्वर्गोके विमानोकी लम्बाई-चौड़ाई, स्वर्ग नरककी रचना, अब यह कोई युक्तिसे सिद्ध हो सकेगा क्या कि यह विमान इतना ही लम्बा है? इतना ही चौड़ा है या यह नरक इतना, पटल इतना बड़ा है, तो यह आज्ञासे सिद्ध होता है। पर 7 तत्व, 6 द्रव्य इनका निर्णय युक्तिसे भी है और आगमसे भी है, पर यहाँ कोई आगमकी अवहेलना करके और अपना कौशल दिखानेके लिए ऐसा ही कहे कि हम आगमको कुछ नहीं मानते, जो युक्तिमें उतरेगा सो ही हम मानेंगे, सो आगमकी श्रद्धा से हटकर जो केवल युक्तिकी ही बात कहे वह स्वच्छन्द वृत्ति है। युक्ति लगाये, पर आगमकी श्रद्धासे हटे नहीं, इस तरह परमार्थ और व्यवहार दोनोको जो जानकर आत्माकी और आता है वह योगी सुख पाता है और मुक्ति पाता है।

(85) एक ही वाक्यमें निश्चय, व्यवहार दोनोका दर्शन – देखिये! जब किसी वस्तुका निर्णय करने चलते हैं, उस वस्तुको अभेद विधिसे निरखते हैं तो वह सामान्य बन जाता है। एक विषय करने वाला निश्चय है। जब भेद विधि से देखते हैं तो उसका विशष बनता है। उनका वर्णन करने वाला व्यवहार है। जैसे आत्मा एक विविक्त शुद्ध ज्ञानभावस्वरूप है, देखिये कैसा ही निश्चय आप बोलें उसही में व्यवहार पडा हुआ है और कैसा भी व्यवहार बोले, उसमें निश्चयका लक्ष्य नहीं है तो वह भी प्रयोजनवान नहीं है। तो प्रत्येक व्यवहारसे निश्चयकी गंध, प्रत्येक निश्चयमें व्यवहारकी गंध, क्योंकि यह तो एक जानकारीका उपाय है। निरपेक्षनय मिथ्या होता है, सापेक्षनय सम्यक् होता है, पर अनुभव दशामें किसी भी नयका आलम्बन नहीं रहता। ऐसे ही समझाया गया कि यह आत्मा स्वयं सहज अविकार शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, यह निश्चयसे बताया गया, मगर इस उपदेश में भी कई तोड़े हुई हैं और जितना यह समझा गया कि स्वयं सहज सत् अर्थात् किसी परकी अपेक्षा न रखकर किसी परका सम्बंध न जोड़कर जानना। तो जैसे सत्व बताना परके असत्त्वके साथ है उसको परके असत्त्वका भी निर्णय है तो ऐसे ही निश्चयसे जान रहे कि हालतमें परसे निराला है, स्वभावसे ही दिखता है आदिक जो छॉट बनी है और उसके सहारे निर्णय है वह एक व्यवहारकी ही तो विधि है, मगर दृष्टिका अंतर है। एक ही वचन निश्चयरूप भी हुआ, शुद्ध अशुद्ध व्यवहाररूप भी हुआ।

(86) एक ही वाक्यमें निश्चय व्यवहार दोनोके दर्शनका उदाहरण— जैसे यह बात शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनयसे जल्दी समझमें आ सकती है। कैसे कि शुद्ध निश्चयनयका विषय है कि प्रभु केवलज्ञानी है, अब उस केवलज्ञान शुद्ध पर्यायको उस द्रव्य में अभेद करके निरख रहे, इस दृष्टिसे निरखनेपर वह निश्चयनय है और वह प्रभु आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है। उसमें से एक केवलज्ञान पर्यायको देख रहे हैं तो यह भेद किया उससे व्यवहारनय है। आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, ऐसे अनन्तगुण है, ऐसा भेद करके बताया, इस कारण व्यवहार है, पर आत्माकी अभिन्न शक्तियोंको आत्मामें ही बता रहे हैं, इस कारण निश्चय है। बात एक ही कही जा रही है, मगर निरखनेकी रीतियाँ दो हैं। कुछमें एक ही वाक्यमें निरखनेकी रीति दो होनेसे अब जो प्रधान हो आपके आशयमें उस नयका नाम बोला जायेगा। तो वस्तुको निरखे। नय विशेषरूपसे देखें तो जो सामान्य रूपसे देखनेकी रीति है वह तो है निश्चयनय और जो विशेषरूप से देखनेकी रीति है वह है व्यवहारनय। सो विवक्षासे उस वस्तुके ज्ञानकी साधना होती है। तो आगममें अभेदविधिसे, भेदविधि से सामान्य से, विशेष से, सब प्रकारसे वर्णन है। तो उन सब वर्णनोसे उस वस्तुका स्वरूप सिद्ध करना चाहिए।

(87) अविकार सहज स्वयं सदरूपताकी दृष्टि पाये बिना भूतार्थकी चर्चामें विडम्बना— एक बात यहाँ और समझना चाहिए कि व्यवहारको अभूतार्थ कहा है और निश्चयको भूतार्थ कहा है, तो भूतार्थका क्या मतलब और अभूतार्थका क्या मतलब? यह शब्दसे ही निकालो, भूत कहते हैं सत् हुए, जो स्वयं सत् रूप है वे तो भूतार्थ है और जो स्वयं है अपने आप परका निमित्त पाये बिना और सदा है वह तो भूतार्थ कहलाता और जो सदा नहीं, स्वयं नहीं, औपाधिक है वह व्यवहार अभूतार्थ है। है दोनो ही सही, क्योंकि स्वयं सदभूत वस्तु है ही और यह भी लगा हुआ है साथ कि कर्मका निमित्त पाकर जीवकी यह संसरणदशा बन रही है। कोई कहे कि यह तो अज्ञानमें बन रहे तो वह अज्ञान भी तो आगंतुक है, औपाधिक है। हो तो रहा है। तो कर्म सहित है जीव यह भी बात सही है और खालिस एक चैतन्यमात्र है जीव, यह भी बात सही है। मगर जब केवल स्वयंभूत अर्थकी

देख रहे हैं तो उससे जो द्रव्यका निर्णय किया कि वास्तवमें जीव तो सहज चैतन्यस्वरूप है तो इस दृष्टिमें विकार जीवके स्वरूप नहीं है। जब स्वरूपकी दृष्टिसे वस्तुको निरख रहे हैं, स्वभावमात्र आत्माको निरख रहे हैं और वही परिपूर्ण वस्तु है जो शाश्वत् है, तो उस दृष्टि में विकार व्यवहार ये प्रतिष्ठा नहीं पाते और इस कारण इस दृष्टिमें व्यवहार असत्यार्थ है, क्योंकि जीवके स्वरूपमें विकार नहीं है। मगर इस दृष्टिको तो कोई रखे नहीं, व्यवहार अभूतार्थ है, असत्य है, केवल इतनी ही सीख रटे तो उसने नयोका मर्म नहीं पाया और ऐसा कहते रहने पर भी जीवनमें किसी भी समय वह अनुभव जैसी तैयारी नहीं हर पाता, किन्तु जो जानता है कि हमको विपत्तिसे हटना है और जो शान्ति धाम है उसमें आना है, वही तो पौरुष करेगा कि मैं इस विकार व्यवहारके विकल्पको त्याग कर अपने इस शांत स्वरूपमें पहुंचूँ। जो विपत्तिमें पड़े है और विपत्ति मान रहे है और मुखसे कह रहे है कि कोई विपत्ति नहीं तो उससे कही भला मार्ग तो न मिल जायगा। हाँ कोई स्वरूपकी निगाह रखकर वहाँ निरखे और उस ही में अपने आपका अनुभव करें और उसही के लिए पक्का हो जाय तो उसका यह कहना ठीक है कि विकार नहीं। इस पर कोई आपत्ति नहीं, इस पर कोई कष्ट नहीं। मगर दृष्टि हो उस जीव तत्वकी जो कि सहज स्वयं सद्रूप है।

(88) अविकार अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि प्राप्त होनेपर स्वपरका यथार्थ दर्शन — परके लेपसे रहित केवल अपने आपके स्वभावरूप स्वयंभूत अर्थकी जिसे दृष्टि मिली उसका सचमुच में सारा ढांचा बदल जाता है उसमें प्रशम सम्वेग अनुकम्पा और आस्तिक्य ये स्वयं सहज प्रकट हो जाते हैं। जिस जीवका भवितव्य अच्छा है, कर्म मुक्त होनेका निकट समय है उस जीवको इस केवल स्वरूपका परिचय मिलता है। जब यह मैं जीव सत् हूँ तो वह मैं केवल अपने आप अपनी सत्तासे किस रूपमें हूँ बस यह परखना है और यह दृष्टिमें आते ही यह उसका पूरा निर्णय हो जाता है कि मेरा अणु मात्र भी नहीं है, परिजन तो मेरे क्या होंगे? वैभव तो मेरा क्या होगा? मेरा इस ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वके अलावा जगतमें कुछ नहीं है। था ही नहीं, हो ही न सकेगा। मैं तो यह पूर्ण एकज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्व हूँ, इसमें मेरा ही परिणमन चल रहा है और जो परिणमन चल रहा है वह समय—समय में एक एक है, अखण्ड है। जैसे हम अपने इस सहज सतको मुखसे नहीं बता सकते, इसी प्रकार समय—समयपर जो—जो मेरा एक—एक परिणमन निरन्तर चल रहा है उसको भी नहीं बता सकते। और जैसे हम अपने उस सहज स्वरूपको गुणभेद करके बता पाते हैं कि इसमें ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चरित्रगुण है, भेद करके बता पाते, व्यवहारसे बता पाते इसी प्रकार मेरा प्रति समयमें क्या—क्या परिणमन चल रहा है उसको भी हम भेद करके ही बता सकते हैं कि यह ज्ञानगुणका परिणमन है, यह दर्शन गुणका परिणमन है, वह भी मोहके आश्रयसे ही कहा जा सकता है।

(89) आत्माकी उपादेय सहजकला— भैया। सहज कला एक यह आनी चाहिए कि मैं सहजचित्प्रकाश मात्र हूँ। इस कलाको मनुष्य लोग बहुत—बहुत अध्ययन करके पाते हैं और कोई—कोई तो बिना अध्ययनके भी वह कला प्राप्त कर लेते हैं जैसे कि बहुतसे पशु—पक्षी वे पढ़े लिखे कहाँ होते फिर भी सम्यक्त्व पा लेते हैं। एक दृष्टिकी बात है। जैसे देखा होगा कि किसी कार्डमें कोई दो तीन वृक्ष बने होते हैं और वे वृक्षके चित्र इस ढंगसे बने होते हैं कि उनके बीचमें जो खाली स्थान रह जाता है उसमें शेर, पक्षी, मनुष्य आदिके भी चित्र बन जाते हैं। स्याही के नहीं किन्तु खाली कार्डमें। अब उस कार्डको निरखकर लोग हैरान हो जाते हैं कि कहाँ इसमें पशु, पक्षी, मनुष्य आदि बने? यहाँ तो केवल वृक्ष दिख रहे हैं। वे वृक्ष तो देख रहे पर खाली जगहको नहीं देख रहे और एक बार दिख

जाय, बतानेसे दिख जाय कि देखो यह इस तरहका जो आकार है यह है पक्षी, यह है शेर और यह है मनुष्य। बस एक बार इस तरहका परिचय हो जानेपर फिर दुबारा उनको देख लेनेमें असुविधा नहीं रहती। झट दिख जाता कि यह है। जिसकी दृष्टि में बार आ गया उसको तो झट दिख जाता और जिसकी दृष्टिमें एक बार भी नहीं आया वह ढूँढते-ढूँढते हैरान हो जाता। वह दूसरोके कहनेसे बहुत-बहुत पुरुषार्थ भी करे तो भी बाह्य में डोलता रहेगा। बहुत सीधा साधन है अपने आपको निरखनेका जैसा कि पशु-पक्षी किया करते है अन्य साधारणजन किया करते है। वह उपाय यह है कि जगतके समस्त पदार्थोंको भिन्न असार जान लें और यह जान ले कि विकार तो कर्मका सन्निधान पाकर आये है, इन्हे में अपने आप नहीं कर पाता। केवल मैं ही बिना निमित्त पाये विकार कर लूँ ऐसी बात नहीं है अतएव विकार भी असार है। तो परभाव और परपदार्थ दोनो को असार भिन्न जानकर उनसे अत्यन्त उपेक्षा कर लें और सबका ख्याल छोड़ दे तो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं ही अनुभवमें आता है। तो सर्व तरहसे निर्णय करके फिर सबका ख्याल भूलकर परम विश्राम में बैठे, जहाँ यह अनुभव जगता है।

(90) भूतार्थ अभूतार्थके अर्थकी मीमांसा— जिनेन्द्र देवके द्वारा कहा गया सूत्र व्यवहाररूप है और परमार्थ रूप है उसे जानकर योगीश्वर सुख पाते है और मल ज्ञानपुत्र से दूर करते है। व्यवहाररूप जानना, परमार्थरूप जानना। इन दो सही ज्ञानोमें एक ऐसा प्रभाव है कि यह जीव विकारसे हटकर अविकार स्वरूपमें आ जाता है। भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दशः देखे तब यह अर्थ बना कि जो स्वयं सहज भूत अर्थ है वह है भूतार्थ और जो स्वयं सहज नहीं है वह सब है अभूतार्थ। और जो स्वयं सद्रूप नहीं है, किन्तु समझानेके लिए भेद करके कहा जाय वह है अभूतार्थ। अभूतार्थके मायने असत्य नहीं, किन्तु वह तत्व कोन निरपेक्ष है, कौन सापेक्ष है, क्या अभेद है, क्या भेद है, इसका निर्णय होनेपर निरपेक्ष अभेद अर्थ होता है भूतार्थ, सापेक्ष और भेद वाला तत्व है अभूतार्थ। जब इस मूड में आकर भूतार्थ अभूतार्थका परिचय किया जाय कि भूतार्थ मायने सत्यार्थ, अभूतार्थ मायने असत्यार्थ तो अब उसके परखनेकी रीति दूसरी हो जायगी। प्रथम तो यह ही जाने कि सत्यार्थ कहते किसको है? सति भव सत्यं किसी सत् में अपने आप स्वतंत्रतया जो हो उसे कहते है सत्य। इस अर्थमें भूतार्थ और सत्यार्थ में अन्तर आया। असत्यार्थका अर्थ करें कि जो स्वयं सहज सतमें नहीं है वह है असत्यार्थ। तो इसमें भी अभूतार्थ और असत्यार्थमें अन्तर नहीं आया, लेकिन कोई सत्यार्थ का अर्थ कहे सच और असत्यार्थका अर्थ कहे झूठ तो इसकी रीति बदल जाती है।

(91) सत्यार्थ असत्यार्थ नयवाद— स्वभावदृष्टि जब की जा रही हो तब तो सहज स्वभाव भूतार्थ है और नैमित्तिक भाव असत्यार्थ है याने स्वभावदृष्टिके मूडमें यह निर्णय पडा है कि जो स्वयं सहज सत् हो वह हे सत्यार्थ और जो स्वयं सहज सत् नहीं है, किन्तु निमित्त सन्निधान पाकर उत्पन्न हुआ है वह झूठ है, क्योंकि स्वभावमें विकार नहीं है, पर जो विकार हो रहा है वह क्या झूठ है, विकार का फल है आकुलता, वह भी मिल रही है। विकार रूप परिणमन, वह भी पर्याय में है। झूठ कैसे। तो जब निमित्त नैमित्तिक योगकी ओरसे देखा, घटनाकी ओर देखा, बीत रहीकी ओरसे देखा तो वे औपाधिक भाव विकार सच है किन्तु स्वभावदृष्टि करके निरखे तो वहाँ विकार नहीं पाया गया, अतएव असल है, ऐसे सापेक्ष निर्णयसे जिसने व्यवहार ओर परमार्थका निर्णय किया है वह ही पुरुष कर्मका क्षय करता है। अब अभेद और भेदकी बात देखिये— अभेदसे आत्मास्वरूपको जाना तो बस जो जाना गया सो ही कह बैठेंगे तो भेद आ जायगा। जाननेमें तो ठीक रहा, अभेद

रहा, पर उसके कहनेके लिए शब्द नहीं है जो विधि रूपसे बताया जा सके। तब उसकी ज्ञानस्वरूप आत्मा का गुणभेद करके समझाना कि जिसमें ज्ञान है, दर्शन है, चरित्र है वह आत्मा है, तो अभेद अखण्ड स्वभावकी अपेक्षा तो ये गुण असत्यार्थ है, क्योंकि कुछ अलग-अलग पड़े हुए नहीं है, वह एकमें एक को समझने के लिए यह भेद बनाया गया था। तो स्वभावदृष्टिकी तुलनासे तो असत्यार्थ है, पर क्या कभी झूठ परिचयसे सही ज्ञान जग सकता है? मगर यहाँ तो गुणोके परिचयसे आत्माका बोध हा रहा है। ठीक हो रहा है, कही चूकते भी नहीं है। तो बात क्या है कि जब हम उस प्रतिपादन और समझकी निगाहसे देखते हैं तो आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चरित्र है, ये सब बातें सही है, सत्यार्थ है, किन्तु स्वभावदृष्टिमें भेद और औपाधिक भाव असत्यार्थ है और व्यवहारदृष्टिमें समझानेके मूड में, बीत रहीके मूडमें विकार गुण भेद सब सत्यार्थ है। तो बात यहाँ ऐसी जम रही है कि जब स्वभावदृष्टिसे देखते हैं तो बीत रही बात झूठ और जब बीत रही की निगाहसे देखते हैं तो बीत रही की बात सच है।

(92) प्रयोजनकी अपेक्षा सत्यार्थ असत्यार्थका निर्णय – क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बीत रही की निगाहमें देखे तो स्वभाव असत्य है। कहा तो जा सकता, मगर ऐसा कहनेका कोई प्रयोजन नहीं है। अगर कोई पर्यायकी मुख्यतासे ही दृष्टि कर रहा है तो उसकी निगाहमें पर्याय है, स्वभाव नहीं है। इस रूपसे पर्याय दृष्टिमें स्वभावकी बात असत्यार्थ है। मगर ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं, इसमें कोई कार्य सिद्ध नहीं। अतः इतना ही कहना योग्य होता है कि पर्यायकी दृष्टिसे पर्यायकी बात सत्यार्थ है, लेकिन स्वभावकी तुलनामें बीत रही बात असत्यार्थ है, क्योंकि स्वभावमें विकार नहीं है। तो जिनागम का जिसने भली प्रकार अभ्यास किया वह तो कल्याणसे च्युत नहीं होता। जिसकी नयकी समझ कमजोर है या विपरीत है वह अपने कल्याणमार्गसे च्युत हो जाता है। कैसे? यदि यह ही मान लिया जाय कि जीव में विकार है ही नहीं तो फिर अब कल्याण करनेकी जरूरत ही क्या है? कल्याण तो उसे कहते हैं कि भाई कोई आपत्ति है, विकार है तो उसको हटाने और समझाने वाली स्थिति लाना इसको कहते हैं कल्याण। जब यह मान रखा है कि आत्मामें विकार होते ही नहीं है तो कल्याणकी क्या जरूरत? ओर कोई यह मान ले कि आत्मामें तो योग्यता ही है विकार करनेकी तो भाई विकार हटाए ही कैसे जा सकते? आत्मा नित्य है और आत्माकी ही योग्यता हे सो वह भी नित्य है और उससे ही विकार आया सो वह भी नित्य रहा। अब मेटनेकी गुंजाइश ही कहाँ रही? तो जो सही समझ बनाता है कि विकार जीवके स्वभावमें नहीं, किन्तु कर्मविपाकका सन्निधान पाकर ये विकार जगे है, जगे आत्मामें है इसलिए इनको हटानेकी आवश्यकता है और स्वभाव में से है नहीं इसलिए ये हटाये जा सकते हैं। तो विभावसे प्रीति तजना, स्वभावमें लीन होना बस यह है कल्याणका रूप। तो आगमका श्रद्धान और आगमके श्रद्धानसे लाभ उठाना यह बात उन जीवोके बनती है जो आगम में आस्था बनाये है और जिनमें युक्ति चलती है उनको युक्तिसे भी जांच रहे वह पुरुष आगमके अभ्यासका लाभ उठाता है। तो ऐसा आगमका कथन समझकर, उसकी श्रद्धा रखकर यथाशक्ति आचरण करना।

(93) आगमकी आस्था बिना अहितकारी स्वच्छंद प्रवर्तन— इस काल में स्वच्छंद मन वाले हो जाते हैं याने गुरु सम्प्रदायसे चले आये तत्वसे आस्था न करके जो मेरा मन मानेगा वह है ठीक और जो न मानेगा वह नहीं है ठीक। आस्था तो न रखे किन्तु अपने ही मनको वह निर्णयके लिए सौंपा है तो पुरुष तो छद्मस्थ है, स्वल्पबुद्धि वाले है, वे परीक्षा करके ही उसे ठीक समझे इस लायक योग्य नहीं है, मगर आस्थाके साथ परीक्षा करना

उस परीक्षा करनेकी मनाई नहीं, त्रुटियोंको समझनेका निषेध नहीं, पर आस्था सहित परीक्षा करे तो उसको सफलता मिलती है, और जो आस्थाको जड़से फेककर परीक्षा करने जाय तो उसकी यदवा तदवा प्रवृत्ति बनती है। तो आगमकी आज्ञाको प्रधान रखकर परीक्षा करनेमें दोष नहीं, किन्तु परीक्षाको ही प्रधान रखकर चलनेमें पतनकी सम्भावना है ही। सो स्याद्वाद द्वारा आगमके वाक्योका सही अर्थ लगाकर फिर जो नय, जो दृष्टि हमारे हितके लिए प्रमुख है उसकी मुख्यतासे उसका लक्ष्य रखकर आगे बढ़ना। जैसे व्यवहार और निश्चयमें अपेक्षासे एक परम शुद्ध निश्चयनय भला लगा तो परम शुद्ध निश्चयनयका विषय ही सत्य है बाकी सब असत्य है। तो सारा आगम जितना भी है यह परम शुद्ध निश्चयनयका विषय तो नहीं है। पूरा द्वादशांग यह परम शुद्ध निश्चयनयका विषय नहीं, क्योंकि परम शुद्ध निश्चयनय का विषय तो अपना अखंड अभेद ज्ञानस्वरूप ही है। उस आगमको हमने जाना परम शुद्ध निश्चयनयका विषय और उसको अपनेमें उतारा वह है विषय। द्वादशांग तो उसका संकेत है अर्थात् द्वादशांग स्वयं साक्षात् व्यवहार है। उसमें रत्न पड़े है, उनका उपयोग करना। कथनी जितनी होती है वह व्यवहार है। तो ये शास्त्र अचेतन है या कथनके शब्द है। परम शुद्ध निश्चयनयका विषय अचेतन नहीं अध्यात्ममें, परमशुद्ध निश्चयनयका विषय भेद नहीं, किन्तु एक अखण्ड तत्वका परिज्ञान। सो ये ज्ञानरूप तो नहीं है शास्त्र। शास्त्र सब संकेत है, प्रतिपादन है। तो व्यवहार अभूतार्थ है, असत्य है के मायने है समस्त शास्त्र असत्य है, अतः नयवादसे निर्णय बनावे, शास्त्र असत्य नहीं, असत्य उपायसे सत्यकी खोज नहीं बनती, यह सब सत्य उपाय है, पर स्वभावकी रूचि है, स्वभावका ही परिचय चाहिए वह है अपने आपमें, उसको निरखियेगा अपने प्रयोग द्वारा। अपना काम निकाल लिया जायगा, मगर जिस तीर्थके द्वारा जिस प्रवृत्तिके द्वारा, जिस अभ्यास के द्वारा हम इस स्वभाव तक आ पाये है उसका उपयोग दूसरोको भी होने दिया जाय। उसे झूठ कहकर दूसरोको एक मौका हटा देना यह योग्य नहीं है। तो निश्चयका, व्यवहारका, परमार्थका और व्यवहारका सही निर्णय जानकर परमार्थकी मुख्यतासे आगे बढ़ना मुमुक्षुका कर्तव्य है।

सूतत्थपयविणहो मिच्छादिही हु सो मुणेयव्वो ।

खेडे वि ण कायव्यं पाणिणतं सचेलस्स ॥ ७ ॥

(94) सूत्रार्थविनष्ट मनुश्यकी अपात्रता— जो सूत्रका अर्थ है, सूत्रका पद है, वह जिसकी बुद्धिमं नहीं, जो उससे अनभिज्ञ है, सूत्रार्थ पद जिसके नष्ट है ऐसा जीव तो प्रकट मिथ्या दृष्टि है। ऐसे पुरुषसे जो सचेत है, वस्त्र सहित है उसे हँसी कौतूहल खेलमें भी पाणिपाय न करना चाहिए अर्थात् आहारदान न करना चाहिए, याने धर्मबुद्धिका नाता न रखना चाहिए और कोई इसीसे यह भी ध्वनि होता है कि कोई वस्त्ररहित है और सूत्र अर्थ अक्षर पद जिसके विनष्ट है और वह वस्त्र धारण कर मुनि कहलावे वह जिन आज्ञासे भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि है। इसमें अपनी प्रवृत्तिकी शिक्षाके लिए इसके कितने ही अर्थ निकल आते ह। जैसे जो अपने को मुनि बताये और वस्त्रधारी है वह भी अयोग्य है। भक्तिके पत्रदानके योग्य नहीं है, और जो वस्त्रसहित है अपनेको गुरुपना जतावे है वह भी भक्ति और पात्रदानलके योग्य नहीं है, क्योंकि वह जिनसूत्र जिन अर्थसे भ्रष्ट है। व्यवहारमें ऐसा ही वेश रखा जाना चाहिए जो जिस पदवीमें सही माना जाता है, अब वहाँ यह बताया गया है कि उत्कृष्ट श्रावकेसे पहले याने 10 वी 11वी प्रतिमासे पहले किसी प्रकारका भेष रखना वस्त्रसहित में भी जिस भेषमें यह जचे कि ये गुरु है, ये भेष रखते गुरु बतानेके लिए ते वहाँ आगमका श्रद्धान नहीं है। जैसे सर्वसाधारण है, जैसा कि अव्रति लाग रहते है वैसे ही

कपड़े पहिनकर उत्कृष्ट श्रावकासे बहुत रहते हैं, अन्तर इतना है। जैसे सर्वसाधारण है, जैसा कि अत्रती लोग रहते हैं वैसे ही कपड़े पहिनकर उत्कृष्ट श्रावकसे बहुत रहते हैं, अन्तर इतना है कि अत्रतियोको तो उनके कापडोका रेशमके कपडो का कुछ विवेक नही चूँकि यह प्रतिमाधारी है, यह विवेक पूर्वक रहता है, मगर कोई भेष रखना यह उत्कृष्ट श्रावकसे पहले बताया नही गया।

(95) जैनशासनमें उपास्य व पूज्य तीन लिंग— जैन शासन में तीन लिंग ही बताये गए हैं— (1) मुनिलिंग (2) उत्कृष्ट श्रावकका लिंग और (3) आर्यिकाका लिंग।

इन तीन लिंगोसे अतिरिक्त कोई जैनशासनमें लिंग नही है, ऐसा दर्शनपाहुडमें बताया ही गया है। तो स्वयंकी रक्षा चलती है। मुमुक्षुको यह चाहिए कि अपना भेष कुछ अलगसे जचे, एक जचाव बने ऐसा बनावटी भेष न रखना चाहिए। और रखे कोई ऐसा तो जो विवेकी सम्यग्दृष्टि समझदार श्रावक है वे उसे धर्मबुद्धिसे विबनय नही करते, पात्रदान नही करते। आगमकी श्रद्धासे प्रवृत्ति भी करना और ज्ञानभावना आदिक भी करना जो इस तरह अपनी चर्या रखता है उसको सुगमता है कि वह मार्गसे चलेगा अन्यथा मायाचार आ जाता है। जहाँ भेष बताया नही वहाँ भेष रख लेना, इसमें विकट मायाचार है। तो मायावी हृदयमें धर्मका प्रवेश नही होता। तो जिसको कल्याणकी भावना है वह अपने ही पद के अनुसार व्यवहारभेष रखता है और न रखे तो उसने आगमकी अवहेलना की। तो आगम का अर्थ पद ये कुछ भी न जाना इस कारण वह मिथ्यादृष्टि है। चाहे जगतको अपना कैसा ही रूप दिखाये और कुछ भी प्रसिद्धि करे। तो जिन सूत्र अर्थ अक्षर इनकी सही श्रद्धा सहित युक्तिवादमें बढ़ना और प्रवृत्तिमें बढ़ना यह शिक्षा इस प्रकरणमें दी गई है।

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।

तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।। 8।।

(96) आगम श्रद्धान व आत्मज्ञानके बिना सिद्धिकी अशक्यता— जो मनुष्य सूत्रके अर्थ पदमें भ्रष्ट है, आगमके कथनको सही रीतिसे नही लेता है और उसकी आस्था भी नही है वह पुरुष हरिहरके तुल्य भी हो जाय, रुद्र और नारायाणके तुल्य भी हो जाय तो भी अनेक ऋषि युक्त होने पर भी वह सिद्धिको प्राप्त नही कर सकता है। मोक्षमार्गमें वह नही है। जिसने अपने केवलके स्वरूपको जाना उसकी धुन अपने स्वरूप भावनाकी ही रहती है और वह पुरुष इस केवलके ध्यानके सहारे कैवल्य प्राप्त कर लेगा। किन्तु जिसको कैवल्य दृष्टिकी धुन लगी है वह पुरुष अपनी उस धुनमें, उस लक्ष्यकी पुर्तिके लिए जो बाधक हो रहे हैं उन सब बाधावोको हटाकर ही रहेगा। वे बाधाये क्या है? परद्रव्यका ग्रहण। जहाँ परवस्तु रखे, परद्रव्यका ग्रहण अपनी आजीवविकाके लिए खेती आदिक रखे, परद्रव्यका ग्रहण सर्वपरका ग्रहण तज देगा तो रह क्या जायगा? यथाजात रूप। दिगम्बर स्वरूप। वह रह गया तो दिगम्बर बननेके लिए दिगम्बर नही बने किन्तु आत्मस्वभावके बाधक कारणोको हटाया जानेके पुरुषार्थमें दिगम्बर बन गए। ऐसे केवलके स्वरूपको ग्रहण किए बिना कदाचित बड़ा पुण्य उपार्जन करके स्वर्ग ही जाय तो भी वह करोड़ो भवो तक रूलता ही है। वह मुक्तिके योग्य नही है। जिसने आत्माके भूतार्थ स्वरूपका परिचय नही पाया, जब मैं हू तो हूँ, जो हूँ वह शाश्वत है। कोई भी है ऐसा नही है कि जो है और मिट गया। जो मैं हूँ सो शाश्वत हूँ। जो मैं हूँ सो शाश्वत हूँ। तो जो शाश्वत हूँ सो ही मैं हूँ। अनित्य मैं नही।

(97) **शाश्वत तत्वकी संवेदन गम्यता**— शाश्वत तत्व क्या है मुझमें? बस वह चिद्रूप, अनुभवगम्य। जिसको अनुभव हुआ है वह ही इस शब्दको सुनकर परिचय पा लेता है। जिसको अनुभव नहीं हुआ वह इन शब्दको सुनकर कुछ अगल-बगल ही तकता रहता है। सो यद्यपि इस समय उसको स्पष्ट नहीं है पर पुरुषार्थ करे तो अनुभव बनेगा और स्पष्ट हो जायगा। जिसने जो चीज कभी नहीं खाया जैसे मानो अनन्नास कभी नहीं खाया, अनन्नास एक फल होता है उस अनन्नास फलके स्वादका कितना ही वर्णन किया जाय फिर भी जिसने कभी नहीं खाया वह कुछ न समझा सकेगा। और जिसने खाया है वह नाम लेते ही तुरन्त जान जायगा। तो कही उस शब्दसे नहीं जाना, किन्तु ख्याल करके जाना कि इसके बारेमें बात है वह ऐसा स्वाद है। शुरू-शुरूसे ही जिसका आलूका त्याग है और वह किसीसे पूछे कि बताओ आलूका कैसा स्वाद होता है, तो वह बतायगा, बहुत-बहुत बतायगा, फिर भी इसकी समझमें सही-सही न आयगा। तो ऐसे ही जिसको अपने आत्मास्वभावका अनुभव बना है उसको उसका नाम लेते ही तुरन्त परिचय हो जाता है। जहाँ कहा एक ज्ञायक स्वभाव, चित्प्रकाश, चिद्रूप, बस वह समझ जायगा, और जिसने आत्मस्वभावका अनुभव नहीं किया उसके कुछ समझ न बनेगी, पर ऊपरी समझ है, उसके आन्तरिक समझ नहीं बनती। तो ऊपरी समझ बनावे वह भी कार्यकारी है उसके बाद आन्तरिक समझ बनेगी, पर साक्षात् समझ तो अनुभवसे प्राप्त हुआ करती है। उस ज्ञानमात्र तत्वके अनुभवमें जो अलौकिक सहज आनन्द प्राप्त किया उस आनन्दके अनुभवने उसको दृढ़ बना दिया। अब उसकी धुन किसी दूसरी जगह नहीं लगती। अपने आपके ही इस चित्स्वरूपमें उसका मन रमता है। और कोई बात उसे सुहाती ही नहीं। जिसको जिस कार्यमें लगन लगी उसे वही सुहायेगा, अन्य गप्प न सुहायेगी, ऐसे ही चित्स्वरूपका अनुभव करने वाले ज्ञानियोको संसारका कोई कभी अणु नहीं सुहाता। एक चित्स्वरूप पवित्र, बस यही दृष्टिमें रहे और यही पर्यायमें बने, ऐसी उसकी भावना रहा करती है।

उक्किट्टीसीहचरियं बहुपरियम्भो य गरुय भारो य।

जो विहरइ सच्छंद पावं गच्छंदि होदि मिच्छत्तं ॥ 9 ॥

(98) **आगमविरुद्ध स्वच्छंद प्रवृत्ति वाले पुरुषकी पापरूपता**— सूत्रका यथार्थ ज्ञान करना कितना आवश्यक है कि उसके ज्ञान बिना कोई बहुत उत्कृष्ट सिंहवत् अपना आचरण बनाये मायने निर्भय होकर, निःशंक होकर खूब तपश्चरण करे और बड़े-बड़े तपश्चरणो द्वारा शरीरको भी सुखा ले और आचार्य भी बने, संघनायक रहे तो भी यदि स्वच्छंद आचरण करता है, सूत्रका ज्ञान नहीं, चरणानुयोगका सहारा नहीं पापोमें ही प्रवृत्त होगा, मिथ्या दृष्टि ही हो जायगा। चरणानुयोगके अनुसार चलना श्रावक और मनिका बड़ा आवश्यक कर्त्तव्य है, उसके अनुसार चलते हुएमें आत्मस्वभावका ध्यान करे तो उसका वह पात्र है। और जो आगममें रमण कर सके। चरणानुयोगका बड़ा उपकार है। चरणानुयोगकी विधिके अनुसार जिसका आचरण हो उसको उस जीवनमें स्वच्छंदता है कि मुझे तत्वका ज्ञान हुआ, अनुभव बना, चरणानुयोगकी बात तो मामूली सी है, तो वह मामूली बात कर क्यों नहीं पा रहा? अगर ये साधारण बाते हैं, व्रत, नियम, प्रतिज्ञा, संकल्प त्याग संबन्धी जो बात अगर बेकार सी है छोटी सी है तो वह छोटी बात भी क्यों कड़ी बन रही है। तो मालूम होता है कि जो आगमके प्रतिकूल चलना चाहता है उसका केवल एक मनका विनोद भर है। पर उस तरह वह तत्वदृष्टिका पात्र नहीं। धर्मका तो बन जाय नेता और निर्भय हो, तपश्चरण करके बड़ा कहलाये और अपने नामसे अपना सम्प्रदाय चलाये तो यह जिनागमसे बहिर्भूत है। पहले बहुत बड़े-बड़े दिग्गज आचार्य हुए। उन्होने कभी जिनागमसे बाहर

प्रवृत्ति नहीं कील। जिनागमकी परम्परासे जो नदीका जैसा प्रवाह चला आया उसीमें काम किया और गुप्त हो गए क्योंकि वे जिनागमके अन्तः नियंत्रण में थे।

(99) आगमविरुद्ध प्रलाप, चर्या व वेश रखने वालोकी संगतिकी भी हेयता—
जिन सूत्रसे च्युत होकर जो स्वच्छंद प्रवृत्ति करता है वह पापी है, मिथ्यादृष्टि है, उसका प्रसंग भी श्रेष्ठ नहीं है। इस सूत्रपाहुडकी टीका हिन्दीमें पंडित जयचन्द जी छाबड़ाने की, जो अबसे करीब 100 वर्ष पूर्व हुए होंगे। उन्होने यह लिखा है कि धर्मकी नायकी ले करके निर्भय हुआ तपश्चरण आदिकके द्वारा, जिससे जो ढंग बन बैठे उससे बड़ा कहलाकर जो अपना सम्प्रदाय चलाता है जिन सूत्रसे च्युत होकर स्वेच्छाचारी बनता है वह पापी मिथ्यादृष्टि है। उसका प्रसंग भी उत्तम नहीं है। आगम श्रद्धा एक बहुत बड़ा भारी बल है और श्रद्धा वही कहलाती है जो आगमके सभी ग्रन्थोंमें उसकी श्रद्धा हो। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, इन सभी में उसका कौशल हो और मुख्यतया चरणानुयोगके अनुसार आचरण हो। जीवन में कैसा आचरण होना चाहिए इस आचरणको बाकी अनुयोग तो नहीं बतलाते। थोड़ा संकेत तो करते हैं तीन अनुयोग कि सदाचारसे रहना चाहिए, मगर वह सदाचार क्या है और किस तरहसे अपना आचरण बने इसका विवरण तो चरणानुयोगमें है। तो चरणानुयोगके अनुसार जो अपने आचरणमें रहता है, चाहे वह पाक्षिक श्रावक जैसा आचरण हो, प्रतिमा सम्बन्धी हो, मुनी सम्बन्धी हो। जो जिस पदमें है उस पदमें प्रभु जिनेन्द्र द्वारा बताये गए चरणानुयोगके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रखे। अधिक दिखावाकी वृत्ति न हो और उस पद माफिक जो बात कही गई है उससे हीन प्रवृत्ति न हो ऐसा जिसका आचरण अभ्यासे में आ गया है उसको आचरणका विकल्प भी नहीं करना पड़ता ओर आचरण होता रहता है यथार्थ और वह अपने आपमें इस सहज अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि बनाये रहता है। सो सूत्रके ज्ञान बिना, आगमकी श्रद्धा बिना, आगममें बतायी हुई विधिके अनुसार चले बिना इस परम अविकार सहजरूपका वह अनुभव नहीं कर पाता।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइदं मरमजिणवरिदेहि ।

एकको वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ।। 10 ।।

(100) बाह्यवृत्तिमें मोक्षके मार्ग व अमार्गका निर्णय — जिनेन्द्रदेवने केवल एक ही मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहारसे कह रहे हैं, वह कौनसा मार्ग है, जिस पर चलना चाहिए, जिसके अनुसार अपनी जीवनचर्या बनाना चाहिए। वह मार्ग है वस्त्ररहित पाणिपात्र मुद्रास्वरूप जो मुनिधर्म है वह तो है एक मोक्षमार्ग। व्यवहार मोक्षमार्गकी बात कह रहे हैं कि किस विधिसे उस ज्ञानीका आचरण रहता है जो मोक्षमार्गमें प्रगतिशील होता है, बाकी सब है अमार्ग। एक इस निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा बिना जितनी अन्य रीतियाँ हैं वे सब अमार्ग हैं। कितने ही लोग कितनी ही वस्तुओका संग्रह रखते हैं और उन वस्तुओको गुरुपनेका साधन मानते हैं, अनेक लोग मृगकी छाल पर बैठते हैं, पर उनके चित्तमें यह नहीं आता कि यह मृगकी छाल आखिर चमड़ी ही तो है, अपवित्र ही तो है, मारकर बनायी गई ही तो है, या मरे हुए मृगसे निकाली गई ही तो है। इसमें निरन्तर जीव उत्पन्न होते हैं। और कदाचित् वह मृगछाल गीली हो जाय तो उसका ग्लानिपन तो स्पष्ट विदित होने लगता है और बजाय इस सही ज्ञानके ऐसी बुद्धि बनती है कि यह बहुत बड़ी पवित्र चीज है। कितने ही लोग वस्त्र तो नहीं पहनते हैं, किन्तु वृक्षके पत्ते, बक्कल वगैरहसे अपने गुहा अंगको ढाके रहते हैं। तो उसमें उनको एक विकल्प तो रहा, भीतरमें विकार तो रहा, जिससे उनको अंग ढकनेकी आवश्यकता पड़ी। बल्कि जो एक साधारण रिवाज है साफी तौलिया आदि

पहननेका तो उसमें विकार सम्बंधी बात उतनी अधिक नहीं बनती जितनी कि बक्कल, पत्ते आदिसे गुह्रा अंगको ढाकनेपर बनती है। और सहजस्वरूप अविकार तो एक दिगम्बर मुद्राका है। तो किसी भी प्रकारके अन्य वस्त्र रखना, रोमका वस्त्र, टाटका वस्त्र, तृणका वस्त्र बना लें और अपनेको मान लें कि मैं गुरु हूँ, मोक्षमार्गमें चल रहा हूँ, तो वह उस कालमें जिनागमसे च्युत है। कभी भी हो वह जिनागमसे च्युत है, उसने अपनी इच्छासे अनेक प्रकार के भेष चलाया है, जैसे श्वेत वस्त्र रखकर उसे धर्मका एक अंग समझा और अपनेको गुरु माने तो वह जिन आज्ञासे विमुख है। वह यह नहीं जान पाता कि मेरेमें यह कमजोरी है।

(101) मुनिमें पूर्व पदवीमें ज्ञानी श्रावककी सत्यके प्रति आस्थाका दिग्दर्शन
 – उत्कृष्ट लिंग क्षुल्लक अर्जिकाको जो वस्त्र कहा है तो वे वस्त्र पहिनते तो है किन्तु यह वस्त्र पहिनना धर्मका अंग है या धर्मका उपकरण है, ऐसा नहीं मानता, किन्तु अपनी कमजोरी समझता है कि मैं अभी अंतरमें पूरा निरपेक्ष नहीं बन पाया और ये रखना पड़ता है, पर जो बाहरी चीजोको रखकर उसे उपकरण मान ले तो उसके नियमसे मिथ्यात्व ही है। कोई लाल पीले वस्त्र रखते है, कोई टाटके वस्त्र रखते है और अपनेको गुरु मानते है, मोक्षमार्ग मानते है, सो यह मार्ग नहीं है। जिनसूत्रमें तो एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर पाणिपात्र वाला भेष ही मोक्षमार्ग बताया है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं। मोक्ष मायने क्या है? केवल रह जाना। जो मैं आत्मा स्वयं एक अकेला परिपूर्ण सत् हूँ, मात्र वही-वही रह जाय, कोई परका सम्पर्क न रहे, बंधन न रहे, केवल यह एक स्वतंत्र निराला बन जाय इसको कहते है मोक्ष। तो जो ऐसा अपने आत्माको निराला होना चाहता है वह तो छोड़ने-छोड़ने का ही कार्य करेगा, पर ग्रहण करनेका कार्य न करेगा। ग्रहण करना पड़े यह उसकी एक परिस्थिति है, पर ग्रहण करके उसे धर्म न समझेगा। त्याग यों करता है कि उसको केवल रहना है, केवलकी दृष्टि है तो कुछ सहज त्याग होता है। कुछ बाधक जान करके त्याग किया जाता है। तो ऐसा जिनशास्त्रमें एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग बताया है, अन्य भेषको मोक्षमार्ग नहीं कहा।

जो संजमेसु सहिओ आरभंपरिग्गहेसु विरओवि।

सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए।। 11।।

(102) संसयम महात्माकी वन्दनीयता- पहली गाथामें यह बताया है कि एक यथार्थ दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, तो वह मोक्षमार्ग कैसे है? क्यों है? क्यों है उसका कुछ वर्णन इस गाथा में है। जो दिगम्बर मुद्राका धारी मुनि इन्द्रिय मनको वश करके अपने आत्मतत्त्व को चिन्तनमें लेता है वहाँ मोक्षमार्ग है। मुक्ति पानेके लिए साक्षात दृष्टि तो अपने कैवल्य स्वरूपपर चाहिए। पर चूँकि यह जीव इन्द्रियके विषयभूत पदार्थोंमें मनके विषयभूत पदार्थोंमें अनादिसे लगा चला आ रहा है तो उनसे निपटनेका अभी एक काम पड़ा है। उस निपटनेका काम बनानेके लिए व्रत नियम तप आदिक ये सब बाह्य बातें है। करनेका काम तो अंतरंगमें अविकार चितस्वरूपमें अंहका अनुभव करना है। ये शुद्ध करने वालोके हाथमें शस्त्र और ढाल दो चीजें रहती है। अब आजकल इन शास्त्र और ढालोका कुछ रूप बदल गया मगर शास्त्र और ढाल ये दोनो ही आवश्यक है। शस्त्र तो शत्रुका संहार करनेके लिए है, ढाल शत्रुका आक्रमण बचाने के लिए है। ऐसे ही संसारतत्त्वका नाश करने के लिए जो सम्यग्दृष्टिने अन्दरमें संग्राम छेड़ा है उसके लिए शस्त्र और ढाल ये दोनो आवश्यक है। शस्त्र तो है शुद्धस्वरूपकी दृष्टि और ढाल है व्रत, तप, नियम आदिकका पालन, क्योंकि ये काम क्रोध मान, माया, लोभ यह शत्रुका आक्रमण सुगमतया, शीघ्र ही, तुरन्त ही अपनी एक

प्रकृति और अभ्यासके अनुसार उनका आक्रमण बचाना चाहे कोई तो शुभोपयोगमें आये। आक्रमण बच जायगा। शुभोपयोग तो है ढाल और शुद्धोपयोग है शस्त्र, और शास्त्रके बिना कोई योद्धा विजय प्राप्त नहीं कर पाता तो ऐसे ही अथवा उससे भी अधिक आवश्यक है कि शुभोपयोग की ढालसे तो अशुभोपयोगका आक्रमण बचाया और शुद्धोपयोगके शास्त्रसे इन कर्म शत्रुओं की जड़ उखाड़ा। यह ही एक धर्ममें करना होता है।

(103) शुद्धोपयोगके अपात्र व शुद्धोपयोगसे घृणा करने वालोंके द्वारा आने वाले संकटका चित्रण — चूंकि शत्रुसंहार किया जाता है, शुद्धोपयोगसे। सो शुद्धोपयोगकी रीति तो प्राप्त हुई नहीं, किन्तु एक विचित्र बात प्रसिद्ध करनेके लिए, अपनी ख्याति चाहनेके लिए अथवा कुछ करना न पड़े और हम धर्मात्मा कहलाये इसके लिए चर्चा तो शुद्धोपयोगकी हो और शुभोपयोगकी अत्यन्त हेय बताकर तीर्थप्रवृत्तिका लोप किया जाए तो यह उसकी एक स्वच्छदता है। आज नये आदमी, नये मनुष्य जो धर्म मार्गमें टिक रहे हैं, जिनको मौका मिलता है कि वे निश्चयकी बात शुद्ध तत्वकी बात कभी समझ लें। यदि यह तीर्थपरम्परा ही नष्ट करदी औंश्र शुरुसे ही उनको उपदेश किया जो अशुभोपयोगमें बढ़ रहे हैं कि शुभोपयोग तो बिल्कुल हेय है तो उनका बढ़ना कैसे बनेगा? जैसे किसीको बम्बई जाना है तो बीच के सभी स्टेशनको पार करके बम्बई पहुंचेगे। अब कोई कहे कि बम्बई जाना है तो बीचके स्टेशनसे गुजरना बुरा है तो फिर मत गुजरो। उससे उसे बम्बई न मिलेगी। तो ऐसे ही मोक्षमार्ग में जो प्रगति से गमन करते हैं वे शुभोपयोग द्वारा आक्रमण वार बचाकर शुद्धोपयोगके प्रयोगसे भावकर्म शत्रुका विनाश करते हैं। द्रव्यकर्म स्वयं नष्ट होते हैं।

(104) इन्द्रिय व मनको वश करके आरम्भ व परिग्रहका त्याग करने वालोंकी वन्दनीयता— मुनिजन इन्द्रिय मनको वश करके अपने आपके चिन्तन में बढ़ा करते हैं। 6 काय के जीवोंकी दयारूप संयमसे सहित होकर ये आरम्भ परिग्रहसे दूर होते हैं। आरम्भ और परिग्रहसे दूर हुए बिना इस ज्ञानमात्र आत्मामें रमण न बन सकेगा। तो जो आरम्भ और परिग्रहका त्याग करेगा उसने जीवदया तो धारण कर ही ली, क्योंकि आरम्भ और परिग्रहके रहते हुए जीवदया पूर्ण नहीं निभ सकती। तो पूर्ण जीवदयाका निभाव तो निष्परिग्रह निरारम्भ पुरुषके हो पाता है तो जो मुक्तिमार्ग में चलना चाह रहा है वह असंयममें प्रवृत्ति नहीं करता, ब्रह्मचर्य में स्थिर रहता है, ऐसा पुरुष सुर—असुर द्वारा भी वंदनीय है। बुद्धिमान पुरुषों द्वारा भी वंदनीय है। वह तो है जिनमार्ग औरइसके अलावा जो एक बाहरी भेष है, परिग्रह वाला है, आरम्भ वाला है वह भेष वंदनाके योग्य नहीं है।

(105) व्यवहारविनयमें भी ज्ञानी द्वारा रत्नत्रयकी वन्दना— वंदना किसकी की जानी चाहिए? दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी। धर्मात्माका जो वंदन करता है सो यह स्मरण करता है कि इन्होंने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रको आदर दिया है, ये इन्हे अपनी शक्तिके अनुसार पाल रहे हैं। यह सब बात जिसकी श्रद्धामें है। वही तो उसका वंदन करता है। तो वंदन करनेमें दृष्टि रत्नत्रयकी और ही हुआ करती है। जैसे जिस जिन प्रतिमामें अरहंत देवकी स्थापना की है उसको वंदन करते समय अरहंतदेवका ही स्मरण रहता है और उस स्मरणके साथ जिनबिम्बको पूजता है तो ऐसे ही जो गुरुजनकी वंदना की जाती है सो सामने दृश्य तो शरीर है, पर शरीरका वंदन नहीं है, किन्तु शरीरमें रहने वाला आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका आदर रखता है और उसका पालन करता है, यह उसके स्मरणमें है तो उसने वंदना की है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी। भाव वंदनीय है और भाव ही संसारमें भ्रमाने वाला है। भाव ही मोक्षमें पहुंचाने वाला है। तो जिसको अपने आपमें उन्नति में ले जानेकी भावना है उसे अपने भावोंमें सुधार करना है।

भाव निरपेक्षताका रहे। हिंसा, झूठ, चोरी आदिक पापासे दूर रहे, ईर्ष्या आदिक दुर्भावनाओसे दूर रहे, अपने आपमें अपने अविकार चैतन्यस्वरूपकी दृष्टिकी उमंग रहे, यह ही सार है। यह ही लोकोत्तम है। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा कार्य नहीं है, ऐसी दृढ़ भावनाके साथ अपने आत्माकी और अभिमुख रहे, ऐसी वृत्ति करने वाला आत्मा वह गुरु है। जिससे हम सीख ले वह गुरु, जिसकी मुद्रासे सीख, जिसकी वृत्तिसे सीख, जिसकी ज्ञानसे सीख, जिसकी क्रियासे सीख। सीखसे क्या मिला? उस रत्नत्रयका अनुमान हो गया तो वहाँ रत्नत्रयकी वंदना है, और प्रतिबिम्ब के समक्ष उस रत्नत्रयका फल पाये हुए विशुद्ध निर्विकार वीतराग सर्वज्ञ परमात्मतत्त्वकी वंदना है। जो अपनेको केवल होना चाहता है वह केवलकी ही आराधना करे। यह ही बात निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुवोके होती है। वही एक रास्ता है। अन्य जो भेष बनाये जाते हैं वे मुक्तिके रास्ता नहीं हैं।

जे बावीस परीसह संहति सत्तीसएहि संजुत्ता।

ते होंदि वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू।। 12।।

(106) परीषहविजयी साधुवोकी वन्दनीयता— जो मुनि अपनी पूरी शक्ति सहित शत शक्तियोसे युक्त होकर 22 परीषहोको सहते हैं वे साधु वंदनाके योग्य हैं, वे कर्मक्षयकी निर्जामें प्रवीण हैं। कर्मका क्षय होता है सहज अविकार ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वमें उपयोगको लीनल करनेसे। अब इस प्रकारकी अंतर्वृत्ति जो मुनि कर रहा हो उसके बाहरमें अनेक उपसर्ग आते हैं, उन उपसर्गोंमें चिगे नहीं और उनपर विजय प्राप्त करे तो वह अपने कर्मक्षयके कार्यमें सफल होता है। तो यहाँ यह जानना कि जो ऊपर शरीरपर बीत रही है, जो उपद्रव आ रहे हैं उन उपद्रवोको सहने मात्रसे मोक्षमार्गमें नहीं बढ़े वे, किन्तु उपसर्ग सहे बिना, समता धारण किए बिना अपनी अंतर्दृष्टिमें सफल नहीं हो सकते थे, इसलिए परीषह विजयको कर्म निर्जराका कारण कहा। प्रयोजन यहाँ यह है कि कितने भी उपद्रव आयें उन उपद्रवोंमें विचलित न होकर अपने स्वरूपमें मग्न होना यह मुनिका प्रवर्तन रहता है।

(107) मुनिके क्षुधा तृषापरीषहका विजय— परीषह 22 कहे गए हैं—(1) **क्षुधा परीषह—** बहुत तप करनेके कारण, अनशनके कारण, कोई व्याधि आदिकके कारण क्षुधाकी तीव्र वेदना हुई तो भी अपने अंतः स्वरूपका ग्रहण करके संतुष्ट रहे, इस वृत्तिको क्षुधा परीषह जय कहते हैं। (2) **तृषापरीषह—** ग्रीष्म ऋतुके कारण, अनेक उपवासोके कारण उसमें साधारण व्याधिके कारण तृषाकी वेदना हो गई हो तो उसे समतासे सहकर अपने श्जुद्ध ज्ञानामृत का पान करके तृप्त रहना यह तृषा परीषह विजय है। क्षुधा और तृषामें तीव्र वेदना तृषाकी होती है और यह बताया गया कि वेदनाके चार प्रकार होते हैं—तीव्रतम, तीव्र और मंद, मंदतम। अधिक तेज, तेज हल्का, बहुत हल्का। इन चार वेदनाओंमें से क्षुधाकी दो वेदनाये हैं— तेज और हल्का। पर प्यासमें ये दो तरहकी वेदनाये तो हैं ही, पर बहुत तेज और बहुत हल्का ये दो प्रकारकी भी वेदनाये हैं। हल्की प्यास, विशेष प्यास, तेज प्यास, बहुत तेज प्यास। तो क्षुधा से तृषाकी वेदना अधिक है, पर वेदना मुनिके लिए कुछ नहीं है। जिसने शरीरको अपनेसे अत्यन्त पृथक् निरख लिया और शरीरसे निराला सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर लिया वह शारीरिक वेदनासे विचलित नहीं होता। सब भीतरी साहसकी बात है। जैसे सम्मेद शिखर जी के पहाड़पर बहुतसे बुद्धा-बुद्धी पैरोसे भी लंगड़े अपने आत्मबलके कारण पूरी वंदना करके आ जाते हैं और कितने ही नवयुवक शरीरसे हट्टे-कट्टे थोड़ा ही चलकर साहस छोड़ देते हैं, पहाड़ की ऊचाई देखते हैं, तो वे लौट आते हैं। यह साहसका ही तो फर्क है। जिसने पूरी ठान ली कि शरीर से मेरा कुछ सम्बंध

नहीं, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, अपने स्वरूपको ही निरखूंगा, ऐसी पक्की ठान लेने वाले पुरुषको शारीरिक वेदना विचलित नहीं करती। यह सब मोह रागद्वेषके होने और न होनेका अंतर है। मोही पुरुष तो शरीरकी तो बात क्या, बाह्य पदार्थको टूटा-फूटा देखकर जिससे इनको ममता है, ऐसे दुःखी होते हैं जैसे मानो उनपर बुखार ही चढ़ गया हो, कोई भीत गिर गई, कोई कुटुम्बमें किसीको वेदना हो गई या कहीं नुकसान हो गया तो वह ऐसा अनुभव करता कि जैसे मानो तेज बुखार चढ़ गया हो, ये सब मोहके प्रभाव हैं। जिसने अपने आत्मसत्वको शरीरसे निराला निरख लिया उसको शारीरिक वेदना कैसे विचलित कर सकती।

(108) मुनिके शीत उष्ण व दंशमशक परीषहका विजय— (3) शीत परीषह— ठंडके दिनोंमें ध्यान कर रहे हैं, जंगलमें रहा करते हैं, कोई ठंड बचानेका साधन नहीं रखते, फिर भी अपने ध्यानमें रहा करते हैं। जिसने अपने आत्मामें ध्यान बनानेका ही एक जीवन का सर्वस्व सार समझा उसको मरणका भी भय नहीं होता। उसकी दृष्टिमें है कि मैं आत्मा अमर हूँ मैं इस अमर आत्माको ही निरखता रहूँ और इस अंतस्तत्त्वको निरखनेके साथ इस देहसे विदा हो गया मेरा बिगाड़ कुछ नहीं है, क्योंकि शरण सार तो आत्मतत्त्वमें निवास है, सो वह मेरा बन रहा, ऐसा निर्णय रखने वाले पुरुषको शीत आदिक परीषह नहीं होते, उनसे विचलित नहीं होते। **(4) उष्ण परीषह—** गर्मीके दिन हैं, तेज लपट चल रही है, पर्वत या मैदानमें कहीं बैठे हैं, वह साधारणजनोके लिए बड़ी तीव्र वेदना है, पर जो अपने ज्ञानामृत सरोवरमें मग्न हो रहे हैं, निरन्तर उपयोग जिनका इस शुद्ध ज्ञानमात्र स्वभावमें लग रहा है उनको तो ख्याल भी नहीं आता कि कौनसा काल है, कहाँ बैठे हैं? तो ऐसे भीषण गर्मीके प्रकोपके उपद्रवको भी समतासे सह लेवे और अपने अहतः इस ज्ञानसरोवरमें उपयोगको मग्न करें यह है उष्ण परीषह विजय। **(5) दंशमशक परीषह—** कहने को तो छोटा डँस मच्छर है, मगर वह काटे तो उसकी क्या वेदना होती है? साधारणजन जरा भी नहीं सह सकते और उस वेदनासे पीड़ित होकर वे मच्छरको भगानेका भी ख्याल नहीं रखते, किन्तु मच्छर पर ऐसा हाथ मारते कि उसके प्राण भी चले जाये। तो डँस मच्छर काटे उस समय भी मुनि अपने इस अमूर्त ज्ञानस्वरूपका चिन्तन करते हुए विचलित नहीं होते यह उनका दंशमशक परीषह विजय है। उनकी भावना रहती है कि मैं आत्मा अमूर्त हूँ इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं। आकाशद्रव्यके समान अमूर्त है इसमें किसी वस्तुको प्रवेश ही नहीं शरीर पुद्गल है, इसमें ही मच्छरका भिडाव है, इतने सम्बोधनकी बात मुनिके बनी रहती है कि जिसके कारण दंशमशककी वेदनासे विचलित नहीं होता।

(109) मुनिके नाग्न्य व अरति परीषहका विजय — (6) नाग्न्य परीषह— विकार रहित हुए बिना नग्न होना कठिन है। कोई जबरदस्ती ही पूजा प्रतिष्ठाके लोभसे नग्न हो जाय तो वह वास्तविक नग्नता नहीं है। नग्नता वह है कि बाहर भी नग्न है और भीतर भी नग्न है। नग्न नाम है उसका कि दूसरा पदार्थ संबंधमें न रहे, शरीर अकेला ही रहे, उस पर वस्त्रादिक नहीं है उसे कहते हैं नग्न। तो भीतरमें नग्न क्या कहलाता है कि जिसके उपयोग में केवल आत्मस्वरूप है, विकारका लगाव नहीं, विकार वस्त्र नहीं पहिचानता है, सो आत्मस्थिति होना यह है भीतरी नग्नता। तो नग्न होकर लज्जा या ग्लानि या भीतरी विषाद या संकोच आदिक किसी भी प्रकारकी कषाय नहीं रहती, जिससे कि निः”क वह अपने स्वरूपके ध्यानमें मग्न रह सके, ऐसी समताको नग्नपरीषह जय कहते हैं। **(7) अरतिपरीषहजय**प्रतिकूल पदार्थका संयोग हो जाय, मुनिको इष्ट नहीं, ऐसी बात भी आ जाय तो वहाँ भी अरति न करना। द्वेष ग्लानि न करना, उस स्थितिका भी ज्ञाता दृष्टा रहना और यही निर्णय पुष्ट रखना कि अनिष्ट समागम क्या? बाहरी पदार्थ है, उनका

परिणमन है, उनसे मेरेमे कोई बिगाड़ नहीं है, ऐसे प्रतिबोधसे अपने आपमें समता बनाये रखना अरतिपरीषह विजय है।

(110) मुनिके स्त्री व चर्या परीषकाविजय – (8) स्त्रीपरीषसविजय— कोई स्त्री या देवी अपने मनोज्ञ रूपको देखकर हावभाव दर्शाकर इसको डिगाना चाहे तो यह न चिगे और यह जाने कि जिसको विकारभाव होता है वह क्षणिक भाव है, वह अपनेको सम्हाल नहीं पाता और विकारभावमें लग जाता है। तो संसारमें जन्ममरणकी परंपरा बनाये रहनेका साधन है। मुझे जन्म मरण न चाहिए। मेरा स्वभाव तो ज्ञायकभाव है। और अतः झलझलाता रहे, प्रतिभास स्वरूप रहे, इसमें विकारकी गुँजाइस नहीं, विकार तो उदय में आये कर्मरसका फोटो है, उसमें मेरा नेह नहीं। मैं तो अपने सहज स्वरूपमें ही मग्न रहूँगा, ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञाके साथ जो अंतः ध्यान करते हैं और स्त्रीकृत उपद्रवसे चिगते नहीं हैं उनके है यह स्त्रीपरीषह विजय। **(9) चर्यापरीषह विजय**— गमन करते हुए में नुकीले कंकड़, काँटे भी छिदते जायें फिर भी चित्तमें ग्लानि न रखे और उससे अपने आपकी शुद्धतासे न चिगे, ऐसे निर्मल परिणामकी और ही रहना इसे कहते हैं चर्यापरीषहविजय। **(10) निषिद्ध परीषहविजय**— निषिद्धा कहते हैं बैठनेको। एक ही आसनसे निश्चल बैठे हुए आत्माके ध्यान में मग्न होना, शरीर को चलायमान न करना, ध्यानको अविचल बनाना यह है निषिद्धापरीषह विजय।

(111) मुनिके शय्या व आक्रोश परीषहका विजय – (11) शय्या परीषह विजय— साधु जन पलंग, खाट, कोमल शय्या आदिक पर शयन नहीं करते। भूमि, काष्ठ, शिला आदिक पर शयन किया करते हैं, और एक ही करवटसे शयन करते हैं। उनको इतनी सावधानी है कि दूसरी करवट लेने की आवश्यकता समझी तो पिछीसे अपने शरीरको पोछकर और उस जमीनको पोछकर निर्जन्तु स्थान बना कर करवट लिया करते हैं प्रथम तो दूसरी करवट लेनेकी उन्हें आवश्यकता ही नहीं, पर कोई शारीरिक रोग आदिक कोई बात ही आ जाय और करवट लेना ही पड़े तो पिछीसे शरीरको झाड़कर उस पृथ्वी स्थानको झाड़कर करवट लेते हैं। इतना शरीरकी सावधानी है। तो एक ही करवट से थोड़े समय पृथ्वी पर शयन करना अज्ञैर उस ही स्थितिमें अपने अंतस्तत्वकी और उपयोग लगाकर संतुष्ट रहना यह है शय्यापरीषह विजय। **(12) आक्रोश परीषहजय** — आक्रोशज्ञ कहते हैं गालीको। किसी दुष्ट पुरुषने गाली दी तो उस गालीको सुनकर रंचभी खेद न करना और जानना कि गाली क्या है? इस पुरुषके ऐसा ही भाव उपजा है, कषाय उपजी है कि उससे प्रेरित होकर शरीरके मुख आदिक चल उठे और उन्हें सुनकर उपयोगसे भाषावर्गणाये शब्दरूप परिणामी है, तो ये सब बाह्य परिणमन है, इनमें मेरेको क्या सम्बन्ध है। मेरेको कुछ नहीं कहा गया, मेरेमें कोई बाधा नहीं आयी। मैं तो निर्बाध अमूर्त ज्ञानघन हूँ। ऐसा अपने स्वरूपको देखता हुआ मुनि दूसरेके द्वारा दी गई गाली से विचलित नहीं होता और अपने ध्यानमें अग्रसर रहता है। ऐसे प्रवर्तनको कहते हैं आक्रोश परिषह विजय।

(112) मुनिके बध व याचना व अलाभ परीषहका विजय— (13) बधपरीषह जय— कोई दुष्ट पुरुष गाली देकर भी संतुष्ट नहीं होता तो वह लाठी या अन्य किसी शस्त्र से प्रहार करता है उस समय भी यह मुनि अपने आत्माको शरीर से पृथक सत्ता वाला निरखकर और अपने ही इस ज्ञानस्वरूपमें उपयोग को लगानेकी ठानकर अन्दर ही रमकर प्रसन्न रहता है, ऐसी स्थिति को कहते हैं बधपरीषह जय। सुकुमालको गीदड़ीने खाया, सुकौशलको शेरने खाया, किसी मुनिकी चमड़ीको चाकूसे उतारा, किसी मुनिको कडे में बेड़कर अग्नि लगा दी। बड़े कठिन—कठिन उपद्रव उपसर्ग भी आये, पर धन्य है उनका

ज्ञान, उनकी लगन कि शरीर को एकदम बाह्य पृथ्वीवत् जानकर उससे विरक्त हुए अपने ही स्वरूपमें मग्न रहते हैं। ऐसा उपसर्ग सहने वाले अनेको मुनियोने अपनी अंतः तृप्ति के बलसे मुक्ति भी पायी। तो संसारके जन्ममरणसे छूटनेका एक इतना बड़ा महत्व जानते हैं मुनि कि उसके उपायमें आत्मध्यानसे कभी विचलित नहीं होते। **(14) याचना परीषहजय**— बड़ी भूख लगी हो, प्यास लगी हो रोग लगा हो फिर भी अपने आरामके लिए किसी वस्तुकी याचना न करना और हर स्थिति में कर्मविपाकरसका खेल जानकर और उससे पृथक् अपने अमूर्त ज्ञानानन्द स्वरूपको निहार कर प्रसन्न रहना, यह है याचनापरीषह विजय। **(15) अलाभ परीषहविजय** — बहुत दिनोंके उपवाससे भी है और चर्या कर गए। विधि न मिली, लाभ न हुआ तो उस अलाभमें भी लाभके समान समझकर प्रसन्न रहना और अपने ज्ञानस्वरूपकी धुनमें आना यह है अलाभ परीषह विजय। यह सब हो कैसे जाता यह बात उनकी समझमें नहीं आ सकती जिनको अविकार सहज निज ज्ञानस्वरूपमें रमनेकी धुन नहीं बन पायी। जिनके आत्मस्वरूपमें रमण करनेकी धुन बनी है उनके लिए सब सुगम है। कुछ बात ही नहीं है। अपना काम करना यह उनका प्रधान लक्ष्य है। अपने कामके मायने आत्मस्वरूपके विकासका कार्य। याने अंतस्तत्त्वको निरखते रहना। इस धुनके कारण ये सब परीषह उनके लिए कुछ भी कष्ट रूप नहीं है।

(113) मुनिके रोगपरीषहका विजय— (16) रोगपरीषह— कोई कठिन रोग ही जय फिर भी उसके चिकित्साकी वाञ्छा नहीं, उसमें घबड़ानेकी वृत्ति नहीं, किन्तु वही ध्यान जो चलता आया था उसीमें आत्माका उपयोग बना हुआ है यह है रोगपरीषहविजय। सनत कुमार चक्रवर्ती कामदेव माने गए, उनका बहुत ही सुन्दर रूप था, जिनको देखनेके लिए देवता तक भी तरसते थे, आते थे, वे मुनि हो गए और कोई पूर्वकृत पापकर्मका उदय आया, असाता वेदनीयका रस चढ़ा, उनमें शरीरमें कुष्ठ रोग हो गया। अब तुलना करो— कहाँ तो वह सुन्दर रूप और कहाँ कुष्ठकी वेदना, विद्रूप हो जाना, पर उस समय वह सनत कुमार मुनि अपने आत्मध्यानमें सावधान ही थे। शरीर तो गलेगा, जलेगा, छुटेगा, उसका क्या लगाव रखना? बड़े विरक्त थे, इस बातकी भी महिमा स्वर्गमें फैंली। जैसे पहले सुन्दर रूप की चर्चा स्वर्गमें फैंली थी वैसे ही अब उनके वैराग्यकी चर्चा स्वर्गमें फैंल गई। एक देवके मन में आया कि मैं देखूँ तो सही कि कैसा विरक्त है सनत कुमार, सो एक वैद्यका रूप रखकर झोलेमें अनेक प्रकारकी दवाये रखकर जहाँ सनतकुमार चक्रवर्ती मुनि ध्यानकर रहे थे, उनके सामनेकी गलियोसे चल—फिरकर जोर—जोर से कहते जाये कि लो दवा खरीदो दवा, हमारे पास सब प्रकार की अचूक दवाये हैं। क्या कुष्ठ रोग, क्या राज रोग, क्या जलोदर रोग, सभी प्रकारके मर्जोकी शर्तिया दवाये हैं, लो दवा खरीदो दवा। इस प्रकारकी वृत्ति देखकर सनत कुमार मुनि सब समझ गए कि यह व्यक्ति मेरेको संकेत करके इस प्रकारसे कह रहा है, सो अपने पास बुलाया और पूछा कि भाई तुम्हारे पास कौन—कौनसी औषधियाँ हैं? तो वह कहने लगा कि कुष्ठकी है, राज रोगकी है, अमुक रोगकी है, बोलो तुम्हें कौन—सी दवा चाहिए? तो सनत कुमार बोले कि मैं जिस रोगकी औषधि चाहता हूँ उसे आप न दे सकेंगे। वहाँ उस देवको कुछ कल्पना ही न थी कि यह क्या कहेगा, सो वह बोला— हाँ हाँ हम दे सकेंगे, बोलो तो सही तुम्हें किस रोगकी दवा चाहिए? तो सनत कुमार मुनि बोले— देखो मेरेको जन्म मरणका एक बड़ा भयंकर रोग लगा है, वह लगा है अनादिकालसे, यदि उस जन्म मरणका रोग मेटनेकी कोई अचूक दवा हो तो वह आप दे दीजिए। तो वहाँ वह देव सनत कुमारके चरणोंमें लोटकर बोला—महाराज, मुझे आप माफ करें। जन्म मरणके रोग की दवा देनेमें मैं समर्थ नहीं। आखिर वह उस बनावटी भेषको छोड़कर अपने सही रूपमें आ गया और कहने लगा—महाराज धन्य है

आपका वैराग्य। आपके वैराग्यकी जो चर्चा मैंने स्वर्गों में सुनी थी वह शत प्रतिशत सही थी। तो भयानक रोग आनेपर भी उस रोगकी वेदनासे विचलित न होना और अपने आपके रोगरहित, विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि रखना यह है रोगपरीषह विजय।

इस गाथामें कहा जा रहा है कि जो अपनी शक्तिके अनुसार 22 परीषहोको सहते हैं, समता धारण करते हैं वे मुनि कर्मोंके क्षय और निर्जरामें प्रवीण होते हैं, क्योंकि इच्छा निरोधको ही निर्जरा बताया गया है। कर्मबंधका कारण है इच्छा और तपमें इच्छानिरोधकी ही मुख्यता है जिसकी वहजसे परीषह न सह सके वह तो बंधका साधन है और देहसे अपने को निराला जानकर अपने स्वरूपमें रमना यह इच्छानिरोधका रूप है इससे निर्जरा होती है।

(114) मुनिके तृणस्पर्श, मल व सत्कारपुरस्कार परीषहका विजय— (17) तृण स्पर्शपरीषहजय— मुनिराज तृणस्पर्शपरीषहके विजयी होते हैं, तृणका पैरोमें चुभ जाना, काँटे लग जाना, चले जा रहे हैं देख भालकर जा रहे हैं फिर भी कोई काँटा लग गया पैरोमें तो उससे ऐसा म्लान नहीं हो जाता कि परिणामोंमें विकार आये और अपने स्वरूपके, ध्यानसे बिल्कुल चिग जाय। उस समय भी अपने स्वरूपमें रमना ऐसा तृणस्पर्श परीषह विजय है। **(18) मलपरीषहजय—** शरीर में मल आ गया, वे स्नान करते नहीं, कितना ही मल लगा हो तो भी उससे मनमें ग्लान न होना, दुःखी न होना यह है मलपरीषहविजय। जब शरीर ही पृथक दिख रहा है मुनियो और केवल एक अपने आत्मसत्वसे ही अनुराग है तो वे मल निरखकर, देहका मैल देखकर वे दुःखी क्यों होंगे? वे तो ज्ञाता ही रहते हैं। **(19) सत्कार पुरस्कार परीषह विजय—** कोई लोग सत्कार न करे तो भी उसका कोई असर नहीं होता मुनियोको अथवा सत्कार करें तो उसका भी असर नहीं होता। लौकिक प्रशंसा सुनकर उन्हें संतोष नहीं होता, किन्तु अपने आपके स्वरूपमें रमकर ही उन्हें संतोष होता है। निन्दा करे कोई तो वे जानते हैं कि यह बेचारा अज्ञानी है। इसका स्वरूप तो है प्रभुतुल्य, मगर कर्मों का ऐसा आवरण छाया है कि यह जीव अज्ञानी होकर कषायवृत्तिसमें चैन मानता है। कषाय—वृत्तिसे प्रेरित होकर जिसमें शान्ति जँची वैसी अपनी प्रवृत्ति कर रहा है, मेरेको कुछ नहीं कह रहा, शरीरको भी कुछ नहीं कह रहा, किंतु उसके कषायकी वेदना हुई तो अपनी कषायकी वेदनाको वह शान्त कर रहा है। फिर मैं आत्मा तो अमूर्त हूँ, किसी दूसरेके द्वारा पहिचानमें न आ सके, ऐसा ज्ञानज्योतिर्मय हूँ, इसका तो इस निन्दा करने वालेको परिचय ही नहीं है। यदि परिचय होता तो गुणानुराग ही करता, क्योंकि आत्मा तो ज्ञानान्दस्वरूप और उसका वह परिचय कर लेवे तो उसमें ही उसका अनुराग जंचता है। तो अज्ञानीजनो द्वारा गाली दिए—जानेपर, निन्दा एि जानेपर, सत्कार न किए जानेपर उन्हें क्षोभ नहीं होता और वे अपने स्वरूपमें रमनेके पौरुषमें बढ़ते ही रहते ह। यह है उनका सत्कार पुरस्कार परीषहविजय।

(115) मुनिके प्रज्ञा, अज्ञान व अदर्शनपरीषहका विजय— (20) प्रज्ञापरीषहजय— तपश्चरण साधनाके बलसे कोई विद्या सिद्ध हो जाय, ज्ञान बढ़ जाय, अवधिज्ञानादिक हो जाये तो उसका उन्हें घमंड नहीं होता। वे यथार्थ तत्वको जानते हैं कि आत्माकी परम ऋद्धि तो केवल ज्ञान हे। जिससे कि तीन लोक और अलोकके समस्त पदार्थ ज्ञानमें आया करते हैं। और ये जो कुछ थोड़े ज्ञानातिशय हुए हैं ये तो कुछ भी चीज नहीं है, उन्हें इस बातका घमंड नहीं होता, और कितनी ही ऋद्धि सिद्धि हो जानेपर भी अपने आपके स्वरूपमें उपयोग लगाये रहनेका पौरुष बनाये रहते हैं। उस और तो दृष्टि भी नहीं जाती, यह है उनका प्रज्ञापरीषह विजय। **(21) अज्ञानपरीषहविजय—** बहुत तपश्चरण

साधना करनेपर भी यदि अवधि ज्ञानादिक कोई अतिशय नहीं पैदा होते तो उन्हें खेद नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि बड़ी अतिशय ऋद्धियाँ नहीं मिलीं तो क्या हुआ, यह तो एक आंशिक बात है, और आत्माका स्वभाव तो अनन्त चतुष्टयका है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्तआनन्द, ऐसा महान स्वरूप है, और कुछ ज्ञान हो जाना, कुछ ऋद्धियाँ हो जाना, ये तो सब छोटी ही बातें हैं, उनके न होनेका मुनिजन कष्ट नहीं मानते। ऐसे सिद्ध भगवान बहुत हैं जिनको मुनि अवस्थामें श्रुतज्ञान भी पूरा न था, श्रुत केवली भी न बन सके थे, और तपश्चरण करके मोक्ष हुआ, परमात्म स्वरूप प्रकट हुआ, तो केवलज्ञान द्वारा समस्त लोकालोक को निहारने लगे। तो साधुवोको अपने आपमें कोई अतिशय न प्रकट हो तो उनको कोई खेद नहीं होता। (22) **अदर्शन परीषह** – कोई बात प्रकट न होनेपर ऋद्धियाँ न होनेपर कुदृष्टि नहीं बनती मुनियोंके कि मैंने इतने वर्ष तक ऐसी साधना की और मेरेको अतिशय ही नहीं बन पाया तो कही यह मार्ग झूठा तो नहीं है, मैं कही गलत रास्तेपर तो नहीं हूँ, ऐसी उनको शंका नहीं होती। उनको यह अटल श्रद्धान है कि मेरे इस आत्माका कल्याण है तो आत्मस्वरूपमें निस्तरंग रम जानेमें ही कल्याण है। इस प्रकार ये मुनीश्वर 22 परीषहोपर विजय करते हैं और कर्मोकी निर्जरा होती रहती है।

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेणसम्म संजुत्ता ।

चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥ 13 ॥

(116) **उत्कृष्ट श्रावककी वाञ्छनीयता**— जैनशासनमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग को मोक्षमार्ग बताया है। मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही है, मगर दुनियाके लोग कैसे समझे कि इस तरह चलने से यह मुक्तिमें बढ़ता है। तो उसका जो बाह्यरूप है वह है निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष। उसको मोक्षमार्ग ही कहा जाने लोकव्यवहार में जल्दी समझमें आये लोगोको ओर रत्नत्रयके धारियोंकी चर्चा भी है इस कारण उसे व्यवहारमें मोक्षमार्ग कहते हैं। तो उस निर्ग्रन्थ दिगम्बर लिंगके अतिरिक्त अन्य जो लिंग है उत्कृष्ट श्रावकका जो दर्शन ज्ञानसे भले प्रकार संयुक्त है, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी उत्कृष्ट श्रावक वस्त्रसे भी सहित है तो भी वह वाञ्छनीय है, इष्ट है तो वह भी भक्तिके योग्य है, क्योंकि मार्ग तो वही है। दृष्टि लक्ष्य भी वही है। उत्कृष्ट श्रावकका उनका एक भेष है। जैसे कि बाह्य परिग्रह कुछ भी आत्माके लिए हितकारी नहीं है, ऐसा जानकर उनका त्याग क्या करना है? त्याग करते करते केवल एक अल्प बात रह गई। एक दो वस्त्रका धारा करना मात्र जिनके रह गया है ऐसे उत्कृष्ट श्रावक भी वाञ्छनीय है। अपने आपको इष्ट है। यहाँ इच्छाका अर्थ योग्य कहा, उसका अर्थ वाञ्छनीय है, इष्ट है, यह अर्थ समझना। वहाँ रुद्धिमें इच्छाका शब्द ही बोल देते हैं। इच्छामि कहा करते हैं, पर इच्छामिका अर्थ क्या है? मैं इसको चाहता हूँ मायने वह उत्कृष्ट श्रावकके भेषको चाहता है, इससे आगे कुछ नहीं चाहता। वह मुनिपना नहीं चाहता, क्या यह अर्थ है? नहीं। यह अर्थ है कि मैं रत्नत्रयको चाहता हूँ। तो रत्नत्रयकी पूर्णता जहाँ हो उन साधुवो को निरखकर कहना चाहिए कि इच्छामि याने मैं रत्नत्रयको चाहता हूँ। इच्छाके योग्य है, इसका अर्थ है कि वह भी वंदनीय है। वह भी इष्ट है। वह भी हमारी भक्तिके योग्य है।

(117) **वन्द्य गुरुजनोके प्रति विनयव्यवहार पद्धति**— जो व्यवहारमें विनयकी पद्धति है वह तो इस प्रकार है जैसे कि बताया है—“नमोस्तु गुरवे कुर्याद्वन्दना ब्रह्माचारिणाम्। इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वंदामीत्यार्यिकादिषु।” गुरु निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुवोको तो ‘नमोस्तु’ शब्द बोलना चाहिए। ब्रह्मचारी वर्गको सप्तम प्रतिमाधारीके श्रावकको ‘वंदनामि’ शब्द बोलना चाहिए और जो साधर्मिजन है अर्थात् सप्तम प्रतिमाके नीचेके पुरुष साधर्मिजन है बताये गये

है। अत्रती हो या दो एक प्रतिमाके धारी हो उनको इच्छाकार कहना चाहिए। तो इच्छाकारका अर्थ सुनो— इच्छाकार शब्द ही बोलना, यह नहीं, किन्तु तुम्हें जो इष्ट शब्द हो, जो शब्द बोलनेकी तुम्हारी इच्छा हो वह बोलना चाहिए जैसे जय जिनेन्द्र, जय जिनेश, जुहारू या जय बीर..... किसी भी प्रकार प्रभुस्मरण होना चाहिए, और अर्जिका आदिकको वंदनामि शब्द बोलना चाहिए। यहाँ आदि शब्द दिया है और सप्तमीका बहुवचन शब्द कहा है। आदि शब्द कहकर यदि एक वचन कहे तो वह बहु ग्रहणमें आता। यहाँ बहुवचन लगाया तो निश्चित हो गया कि कमसे कम तीन को लिया। वे तीन कौन हैं? अर्जिका, क्षुल्लक और ऐलक, ये तीन लिंग हैं। उत्कृष्ट श्रावकके या उत्कृष्ट श्रावक शब्दसे ही कह लीजिए। अर्जिका भी उत्कृष्ट श्रावक है और क्षुल्लक ऐलक भी उत्कृष्ट श्रावक है, उनको वंदनामि बोला जाता है।

(118) उत्कृष्ट श्रावकोकी आत्मतत्वाभीप्सा व उपासकोके लिये अभीष्टरूपता— यहाँ जो कहा है कि उत्कृष्ट श्रावक इच्छाकारके योग्य है इसमें विशेष रहस्य है याने श्रावक आज भी बहुधा मिल जाते हैं, वास्तविक मुनि होना, उनका संग मिलना तो बहुत दुर्लभ है जिनको रत्नत्रयसे ही प्रीति हो, बाह्य क्रियाकाण्डोको कालानुसार करनेपर भी उनमें स्वरूपवत् प्रीति न हो बाह्य, आवश्यक कर्म किए तो जाते हैं मुनि अवस्थामें मगर उनसे उपेक्षा रहती है। मायने ये ही मेरे स्वरूप है यह दृष्टि नहीं है पर जैसे कहते हैं ना कि अब करू करे, यदि ऐसी स्थिति है तो उसे अपने षट्कर्म करने होते हैं, ऐसे ही मुनि चूँकि अब क्या करे, शुद्धोपयोगमें नहीं रम रहे हैं तो वे भी अपने 6 आवश्यकोको करते हैं, पर दृष्टि रहीत है मात्र शुद्ध चैतन्यस्वरूपता। तो ऐसे ही उत्कृष्ट श्रावकोकी भी दृष्टि अपने अविकार चित्स्वरूपपर रहती है, उसमें ही यह मैं हूँ, ऐसा उनका निर्णय रहता है, पर प्रत्याख्यानावरण कषायका कुछ उदय रह गया है जिससे वे पूर्ण निरीह नहीं हो पाते। वहाँ अज्ञानमय इच्छाका अभाव तो चौथे गुणस्थानसे ही हो जाता है। जिसका अज्ञानमय मिथ्या भाव है उसके मिथ्यात्व ही है, अज्ञानमय क्या? इच्छा सुहा जाना, राह सुहा जाना यह ही कहलाता है अज्ञानमय राग। रागमें राग जगना, रागको ही अपना सर्वस्व मानना यह कहलाता है अज्ञानमय राग। सो वह मिथ्यात्व ही है। तो अज्ञानमय भाव तो सम्यग्दृष्टिके किसीके भी नहीं होता। उत्कृष्ट श्रावकके तो होगा ही क्या? उसका तो व्यक्त रूपसे कितना ही त्याग बढ़ गया है, पर प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयमें वह यथाजात अविकार नहीं हो पर रहा, लेकिन वह इष्ट है, वांछनीय है, वंदनके योग्य है।

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिणो जो हु छंडए कम्मं ।

ठाणे द्वियसम्मंत परलोयसुहंकरो होइ ॥ 14 ॥

(119) इच्छाकारमहार्थभिज्ञताका परिणाम— वह श्रावक जो इच्छाकारके महान् अर्थको जानता है। इष्ट क्या है? रत्नत्रय। रत्नत्रयके स्वरूपको जो जानता है और सम्यक्त्व रूप जिसका आचरण है ज्ञान जिसका सही है चारित्रमें जिसकी उमंग है ऐसा जो प्रतिमाधारी श्रावक अपनी प्रतिज्ञामें रहता हुआ सम्यक्त्वसहित वर्तता हुआ आरंभ कार्यको छोड़ देता है वह परलोकमें सुखको प्राप्त करने वाला होता है। अन्य श्रावक जन भी जो उत्कृष्ट श्रावकसे नीचे है वे भी चूँकि सम्यक्त्वसहित हैं, उनकी श्रद्धा निर्मल है, अंतस्त्वकी ही रुचि है वे भी कर्मको छोड़कर आरंभको छोड़कर अपनी शक्ति माफिक आत्मध्यानमें रमते हैं वे भी परलोकमें सुखको प्राप्त करते हैं। श्रावक सोलह स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं। उससे ऊपर मुनि ही उत्पन्न हो सकेगे। वे मुनि चोह मिथ्यादृष्टि भी हो, किन्तु व्यवहार योग्य हो, मंद कषाय हो, समता जिनको प्रिय हो, तपश्चरणकी साधना जिनकी निर्दोष हो,

निरतिचार मूल गुणके पालनहार हो वे मुनि नवग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं। इससे आगे तो भावलिङ्गी मुनि ही उत्पन्न हो सकत अनुदिश और अनुत्तर विमानोमे। तो श्रावक 16वें स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं, किन्तु इस पंचमकालमें चूँकि संहनन छटा ही चल रहा है शरीरका संहनन मजबूत नहीं है और वे इतना निर्विकल्प नहीं बन पा सकते इसलिए वे 8वें स्वर्गक ही उत्पन्न हो सकते। छठे संहननका धारी पुरुष 8वें स्वर्गसे ऊपर उत्पन्न नहीं होता। इन सबमें संहननोके क्रममें उत्पत्ति बतायी है। ऊँचे संहनन वाले पुरुष ही ऊपरके स्वर्गमें और अनुत्तर तक उत्पन्न हो सकते। पर असम्प्राप्तसृपादिका संहनन पावे। छटा संहनन, इसमें भी 8वें स्वर्गसे ऊपर न उत्पन्न होगा। देखिये विधान चलता है सब भावोके अनुसार। उस औरसे देखा जाय तो शंका हो सकती है कि संहननसे क्या मतलब? भाव ऊँचे होने चाहिए। तो कोई हीन संहननका धारी ऊँचे भाव करके दिखाये तो सही। थोड़ा परीषहोकी बदल तो हो जायगी, मगर उत्तम ध्यान तब भी नहीं बन पाता। तो होता तो भावोके अनुसार ही काम, मगर ऐसे संहननमें निर्विकल्पता बने ऐसा ध्यान नहीं बन पाता। तो श्रावक आजकल तो 8वें स्वर्ग तक ही जा सकते, वैसे उनकी उत्पत्ति 16वें स्वर्ग तक कही गई है, पर संहनन कम होनेस 8वें स्वर्ग तक ही जा पाते। तो जो शुद्ध ध्यानपूर्वक चलते हैं वे श्रावक परलोकमें भी सुख प्राप्त करते हैं।

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं ।

तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ 15 ॥

(120) आत्मार्थिताके अभावमें सिद्धिकी असंभवता— इच्छाकारका अर्थ है अपने आत्माको चाहना। अविकार जो सहज स्वरूप है चैतन्यमात्र प्रतिभास स्वरूप वह जिसको इष्ट है, वह ही जिसको सर्वस्व है, ऐसी श्रद्धा वालेको कहते हैं कि उसने इच्छाकारका महान् अर्थ समझा। सो जो इच्छाकारका यह महान् अर्थ जानता है अर्थात् सहज परमात्मतत्त्वमें जिसको अनुराग है वह स्वर्गसुख पाता है। मगर जो अपने आत्माको नहीं चाह रहा याने इच्छाकारके महान् अर्थको नहीं समझ रहा वह पुरुष चाहे बहुत ऊँचे बाह्य तपश्चरण कर ले, धर्म कर ले तो भी वह सिद्धिको प्राप्त नहीं होता। वह संसारमें ही स्थित है। आत्मा स्वयं सहज ज्ञानानंद रससे परिपूर्ण है, स्वभाव ही उसका यह है, अन्य कुछ स्वभाव है ही नहीं। इसमें कष्टका नाम भी नहीं है। स्वरूप है, प्रतिभास होता है, ज्ञानमय पदार्थ है, स्वरूप प्रतिभास ही हुआ, यह ही तो कला है इस जीवमें। इसके आगे जो कुछ भी बन रहा है वह सब औपाधिक विकारको ज्ञानी पुरुष रंच भी चाहता, उसके आत्मार्थिता है।

(121) आत्मार्थिता व अनात्मार्थिताके परिणाम—वैभव भी ज्ञानी को मिला, पापकर्मका भी प्रतिफलन हो रहा तिसपर भी चूँकि इस ज्ञानीका स्पष्ट निर्णय है अपने ज्ञानानन्द घन सहज स्वरूपका इस कारण रंच भी उसका परिग्रहण नहीं करता। जैसे कोई मुनिपर वस्त्र डालन दे तो मुनि उस वस्त्रका परिग्रहण नहीं करता, मगर डाला तो है बोझ और उसकी गर्मी या जो कुछ भी प्रभाव है वह चल तो रहा, मगर वह मुनि उसको ग्रहण नहीं करता, ऐसे ही जिनके चित्तमें यह परम भेदविज्ञान जगा है कि मेरा स्वरूप तो मात्र चित्प्रकाश है अब इसपर जो विकार लदार, कर्मरसका प्रतिफलन हुआ उसको यह रंच भी ग्रहण नहीं करता, मगर उस ज्ञानप्रकाश जगा है कि वह ग्रहणकर ही न सकेगा। जैसे मोही जीव परपदार्थोके प्रति विकल्प बनाया करते हैं वे उन विकल्पोको हटा ही नहीं पाते, विकारभावोको मोही जन हटा हनी पाते, उनका विकल्प बना रहता है तो जैसे मोही जन विकारोसे न्यारा अपनेको अनुभव नहीं कर सकते ऐसे ही ज्ञानी पुरुष विकारो को अपना

नहीं अनुभव कर सकते। कितने ही उपद्रव आये, पर जिस ज्ञानी पुरुषने अपने अविकार आत्मस्वभावका निर्णय बनाया है वह पुरुष विकारोको कभी ग्रहण कर ही नहीं सकता, पर जिसको आत्माके इस अविकार सहज स्वरूपका परिचय नहीं है वह पुरुष धर्मके नामपर चाहे कितने ही कार्य कर ले, तपश्चरण कर ले, फिर भी वह संसारीका संसारी ही है। वह मोक्षमार्गमें रंच भी नहीं है। जिसका मोक्ष होना है उसका ही परिचय नहीं उसे, मोममें होता क्या है इसका परिचय नहीं है। स्वरूप तो अविकार है। तभी तो यह अविकार स्वरूप प्रकट हो सकता है तो अविकार स्वरूपका, चैतन्यमात्र तत्वका जिसको परिचय नहीं है याने जो आत्माको नहीं चाह रहा वह पुरुष किसी भी प्रकार सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता। सिद्धि मायने जैसा आत्माका स्वरूप है वैसा ही उपयोगमें आ जाना और शाश्वत ऐसा ही अविकारपना बना रहना, यह बात अज्ञानी जीवमें प्रकट नहीं हो सकती। इससे इच्छाकारका सही अर्थ जानना, आत्माका अविकार स्वरूप समझना यह महान् पौरुष है।

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्वहेह तिविहेण ।

जेण य लहेइ मोक्खं तं जाणिज्जइ पयत्तेण ॥ 16 ॥

(122) आत्मत्वके अनभिलाषीको मोक्ष व मोक्षमार्गका अलाभ— इससे पहली गाथा में बताया था कि जो आत्माको नहीं चाहता याने इच्छाकारके महान अर्थको नहीं जानता वह पुरुष सिद्धि नहीं पा सकता। इच्छाकार मायने है आत्माके सहज अविकार स्वरूपको चाहना। तो इच्छाकार शब्दके आश्रय दो तीन गाथाओंमें यह निर्णय दिया है कि जो आत्माके सहज स्वरूपको जानता है वह तो मुक्ति पायगा और जो सहज स्वरूपको नहीं जानता वह संसार में ही रूलता है। अब इस शिक्षा के फलमें क्या प्रवृत्ति करना योग्य है सो बताते हैं। इस कारणसे अतिरिक्त जो आत्माको चाहता नहीं है उसको सिद्धि नहीं, इस कारणसे हे भव्य पुरुष तुम एक इस आत्माका ही श्रद्धान करो। कल्याणके लिए कार्य एक ही है करनेका। जो यह भेद दिखता है कि इसने श्रावक व्रत पाला, इसने मुनि व्रत पाला सो ये इसके दो कारण हैं। एके तोयह कि अशुभ भावोका, विषय कषायोका आक्रमण होता है तो उससे बचनेका तुरन्त उपाय तो चाहिए वह है व्रत। दूसरा कारण यह है कि सर्व बाधकोको दूर करता हुआ ज्ञानी अपने आत्माके स्वरूपकी और प्रगति करता है तो बाधक तो समस्त पदार्थ हे बाहर में। जितने परिग्रह हे सो यह परिग्रहोको हटाता रहता है। किसीका परिग्रह कम हटा किसीका अधिक हटा, किसीने बिल्कुल हटाया, तो इस वृत्तिसे व्यवहार धर्ममें भेद नजर आता है, मगर सभी लोग चाहे श्रावक हो, चाहे मुनि हो, जो भी आत्मकल्याण चाहता है उसका मूल धर्म यही पालनमें आ रहा कि आत्माके सहज अविकार स्वरूपमें यह मैं हूँ, इस प्रकारका अनुभव बनाना, सो हे भव्य जीव तुम इसही आत्माका श्रद्धान करो। मनसे, वचनसे, काय से इस ही स्वरूपमें रुचि करे। बोलो तो इस ही को बोलो। शरीरसे चेष्टा करो तो इस ही के अनुरूप याने एक आसनसे स्थिर होकर बैठ गए और मनसे चिन्तन करें तो इस ही आत्मस्वरूपका, दूसरा कुछ काम ही नहीं।

(123) सहज अविकार चैतन्यस्वरूपकी रुचिसे सर्वलाभ— यहाँ एक बात और समझ लेना है कि जो इस पुरुषार्थको करेगा, सहज अविकार चैतन्यमात्र अपनेको अनुभवेगा, ठीक ठीक जानेगा, उसकी इस वृत्तिके होने पर जब तक संसारमें भव शेष है तब तक उत्तम भव ही मिलेंगे वह संसारमें दुःखी न रहेगा। तो भला बतलाओ ऐसा उपाय जो कि स्वाधीन है, पूर्णतया स्वाभाविक है, किसी भी अन्य बाह्य वस्तुकी अपेक्षा न पड़ना सुगम है, और जब तक संसारमें रहे तब तक आनन्दसे रहे और संसार छूट गया तो प्रकट आनन्द ही आनन्द है। और इन सब फलोकी बातका उपाय है केवल एक ही—अविकार

चैतन्य प्रकाशमात्र अपने सत्वमें अपना अनुभव करना। तो जिसको सम्यग्ज्ञान जगा, यह ज्ञान प्रकाशज्ञ मिला तो वह क्यों न अपने अन्तः पुरुषार्थको करेगा? सो हे भव्य पुरुष तुम भी इस ही अंतस्तत्वका श्रद्धान करो और हर पुरुषार्थसे इस ही स्वरूपमें रुचि करो, मग्न होवो। इससे ही मोक्ष पद प्राप्त किया जायगा। जिस उपायसे मोक्ष पद मिले उसके लिए तो सब तरहसे उद्यम करना। थोड़ा ज्ञान पाया, थोड़ी चर्चा कर ली, थोड़ा चिन्तन कर लिया, थोड़ा संत्संग कर लिया और इतनमें ही सन्तुष्ट होकर रह जाना यह आत्मार्थीका काम नहीं है। उसकी दृष्टिमें तो बहुत बड़ा काम पड़ा है, बाहर नहीं अन्दरमें। बड़ा भी कुछ नहीं, स्वयमें मग्न हो जाना। और बड़ा यो कहा जाता कि इसके खिलाफ बहुत दूर पहुँच गए, सो जितनी दूर पहुँच गए वहाँसे लौटना यह तो बड़ा काम हुआ ना? लौटना ही बड़ा काम है अपने स्वरूपमें रम जाना बड़ा कुछ नहीं है। वह तो अपने स्वरूपकी वृत्ति है। सो जिस उपायसे मोक्ष बनता है, उसको जानना, श्रद्धान करना, अन्य आडम्बरोसे कोई प्रयोजन नहीं। जिसको आडम्बर रूचते हैं, धर्मके नामपर बड़े आडम्बरसहित जो चलते हैं वैसा ही उपयोग रहता है वेपुरुष ज्ञानी नहीं है। ज्ञानी पुरुष तो केवल एक ही लक्ष्य बनाये हुए है कि यह है मेरा स्वरूप समुद्र, उसमें और मैं नहाऊँ? इस प्रक्रियामें चलते हुए हैरानी भी अनुभव करता। जैसे कभी स्वप्न आया कि एक बहुत बड़ा समुद्र या नदी है और प्यासेके मारे गला सूख रहा है, वह पानी पीनेके लिए बहुत-बहुत प्रयत्न करता, प्रयत्न करके हार गया, मगर पानी तक नहीं पहुँच पाता, उस समय वही बड़ी हैरानी अनुभव करता है। कभी ऐसे भी स्वप्न होते हैं। तो यहाँ ज्ञानीको ऐसी ही हैरानी होती है कि नजर आ रहा यह है परम तत्व, इस ही में मग्न होना है, उसके लिए मन भी कर रहा, पर यह बात नहीं बन पा रही तो ज्ञानीका लक्ष्य एक ही है। उसे अन्य आडम्बरमें प्रयोजन नहीं।

बालगकोडिमत्तं परिग्रहगहणं ण होइ साहूणां ।

भुँजेइ पाणिपत्ते दिण्णणं इक्कठाणम्मि ।। 17 ।।

(124) साधुकी निष्परिग्रहता— जो मोक्षमार्ग के लिए अपना पुरुषार्थ लगा रहे हैं वे समस्त परिग्रहोको त्यागकर निष्परिग्रह वृत्ति रखते हैं। निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि मोक्षमार्ग में प्रगति करते हैं। बालके अग्रभाग बराबर याने बाल जितना मोटा होता है उतने अग्रभाग बराबर जो परिग्रहको ग्रहण करता है वह साधु नहीं है। साधुके तो बालके अग्रभागके नोक मात्र भी परिग्रहका ग्रहण नहीं है ऐसा निष्परिग्रह है, जिसकी धुनमें केवल सहज आत्मस्वरूप समाया है उसक परिग्रहका क्या प्रसंग? जिसने केवल आत्माके सर्वस्वको ही चाहा है,, उसके लिए ही उद्यम है वह निष्परिग्रह होकर इस ही अंतस्तत्वकी साधना करता है और इस निष्परिग्रहताका ही यह नमूना है कि वह साधु आहार हाथमें करता है। अब कोई आहार ही लेवे और बाह्या दिगम्बर मुनि बने और चित्तमें बहुतसा परिग्रह बसाये, मोटर, रसोईका सारा समान, बर्तन उसे ग्रहण चाहे कोई न करे पर मनमें बात आ गई, तो वह तो परिग्रह है। और ऐसे ही वाले साधुवोके बारेमें बताया है कि कई करोड़ ऐसे मुनि नरक जायेगे भला यह जगतको कितना टगा जा रहा है कि बाह्यामें तो पंचम परमेष्ठीका रूप रखा और भीतर मनमें अन्य-अन्य विकल्प परिग्रह समा रहे हैं, अन्तस्त्वकी निरन्तर रुचि न जग रही हो वह अपना भी विनाश कर रहा है और उस संगतिमें दूसरेका भी लाभ नहीं है। जिसको मोक्षकी इच्छा है उसको केवल एक ही लक्ष्य रखना होगा कि यह मैं केवल चैतन्यमात्र हूँ। तो मुनि महाराज जो अत्यन्त निष्परिग्रह हैं, पर जीवन तो है, असमयमें मरना तो बुद्धिमाननी नहीं है, इसलिए इस शरीरको सेवक जान कर इसको आहार दिया जाता है, सो मुनि उस आहारकी विधि नहीं बनाता, स्वयं नहीं आहारकी सामग्री रखता, किन्तु जो

श्रावक बना रहा है उसकी भक्तिपूर्वक दिया हुआ आहार ग्रहण करते हैं और वह भी केवल अपने हाथ में तो तो वे निष्परिग्रह ही तो हैं याने किसी भी अन्य वस्तुमें चित्त नहीं है सो विरक्ति और परिस्थितिमें ऐसा इस करना होता है।

जयजायरुवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु।

जइ लेइ अप्पंबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदम् ॥ 18 ॥

(125) तिलतुशमात्र भी परिग्रहणमें मुनिकी दुर्गति— जो यथाजात रूपकी तरह तो भेष रखे याने जैसे बालक उत्पन्न होता है, निर्लेप निष्परिग्रह, कुछ भी साथ नहीं, ऐसा तो कोई भेष रखे और अपने पाणिपात्रमें आहार करे, उसकी ऊपरी चर्या तो ठीक रखे, लेकिन थोड़ा बहुत भी अन्य वस्तुको मनसे, वचनसे, कायसे, भावसे ग्रहण करे, अपनाये तो वह मुनि निगोदमें जाता है। यथाजात रूप तो दिगम्बर निर्ग्रन्थको कहते हैं। सो अगर वह थोड़ा भी परिग्रह रखें तो उसको जिनसूचकी श्रद्धा नहीं है, बिल्कुल निर्लेप, निशल्स, कुछ भी बाह्य से मतलब नहीं, केवल चित्स्वरूपकी ही धुन यह है मुनिका स्वरूप। तो जो थोड़ा बहुत भी बाह्य वस्तुको रखता है उसको जिनसूत्रकी श्रद्धा नहीं है। अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यात्वका फल निगोद है और कदाचित् कुछ तपश्चरणके कारणसे वह स्वर्गादिकमें भी जाय तो वह वहाँ से चिगकर एकेन्द्रिय होकर संसारमें ही भ्रमण करेगा। जहाँ चेतने लायक मन मिला था, मनुष्यका मन बड़ा ऊँचा समझा जाता है, और उस मन वाले जीवमें भी उत्कृष्ट पद मुनिका पद धारण किया। जब वहाँ ही छल बल रहा, वहाँ ही परिग्रहका ग्रहण रहा और कभी किसी तपश्चरण या मंदकषाय होनेसे देवायुका बंध हुआ और कुछ छोटे स्वर्गोंमें उत्पन्न हो गया तो वहाँ कैसे अपनी साधना बनायगा। जब इतने बड़े मौकेको बिगाड़ कर गया तो वहाँ भी आशा नहीं है, नियमतो नहीं, पर आशा नहीं है, ऐसा जीव वहाँसे चिगकर एकेन्द्रिय होकर संसारमें ही रूलता है।

(126) मुनिके निष्परिग्रहत्वका मूल परका अपरिग्रहण— यहाँ थोड़ा इस बातपर विचार करना कि मुनिके तो शरीर है, आहार भी करते हैं, कमण्डल, पिछी, पुस्तक भी रखते हैं, फिर उनको निष्परिग्रह कहा कि वे तृषतुष मात्र भी परिग्रह नहीं रख रहे तो यह कैसे संभव है? आप इसका चिंतन करिये— मूलतः तो ध्यानमें आयगा कि मिथ्यात्वसहित राग भावसे परको अपनाकर अपने विषय कषाय पोषनेको उसने रखा तो उसका नाम परिग्रह है। अब इस कुञ्जीसे प्रत्येक समागमकी परीक्षा कर सकते हैं कि यह रागभावको अपना रहा या नहीं और अपनी ख्याति के लिए आरामके लिए वह रख रहा है कि नहीं? यदि रागभाव है और अपने विषय कषाय पोषनेको है तो परिग्रह है। मुनि निष्परिग्रह है। कोई यह बतलाये कि विहार करते हैं और रास्तेमें 100-200 मील तक श्रावकोके घर नहीं पड़ते इसलिए हम मोटर रखते हैं, एसीयुक्ति कोई मुनि दे तो वह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसने तो इस कारण रखा कि मेरे मौज में बाधा न पड़े। हर जगह आरामके साधन रहे तो यह विषय कषाय पोषनेका ही तो प्रयोजन रहा। मुनि तो अपनी औरसे बिल्कुल निशल्य होता है, निरीह होता है, तभीतो उसे अरहंतका मानो लघुनन्दन कहते हैं। और कही जिनप्रतिमाके दर्शन न हो तो मुनिके स्वरूपके दर्शन करके वही बात बनती है, जिसकी इतनी तो महिमा है और वह स्वयं मनमें बाह्य पदार्थोंके विकल्पमें डूब रहा हो तो वह तो भव सागरमें डूब रहो। तो रागभावको कुछ अपनाना नहीं, विषय कषाय पोषनेको रखना नहीं, किन्तु केवल संयमके लिए ही रखा जा रहा जो कुछ रखा जा रहा। तीन उपकरण हैं—पिछी, कमण्डल और पुस्तक।

(127) शरीर होनेपर भी मुनिके निष्परिग्रहत्व— अब रह गया एक शरीर। सो कोई कहे कि शरीर भी तो रख रहे वे तो वह तो जीवपर्यन्त छूटता नहीं। तो उस शरीर से ममत्व ही छोड़ना बस यह ही शरीरके परिग्रहका त्याग कहलाता है। वे कही शरीरको अलग फेक दे याने मर जाये। इस तरहका कार्य तो निषिद्ध है। शरीर तो रह रहा है, उसको जबरदस्ती मारना नहीं है, पर उस शरीरके प्रति ममता न रहनी चाहिए, यह ही शरीरके परिग्रहका त्याग कहलाता है और जिसको शरीरमें ममता नहीं, शरीरको अत्यन्त भिन्न जान रहा और अपने आपके स्वरूपमें जिसका उपयोग रम रहा ऐसी ही पुरुष तो डंस मसक क्षुधा तृषा आदिक अनेक परिषहोपर विजय प्राप्त करते हैं तो जब तक शरीर हे तब तक आहार न करें तो फिर शरीरमें सामर्थ्य न रहेगी और सामार्थ्य नहीं है तो संयम न सधेगा। इस कारण संयमकी साधनाके लिए विधिपूर्वक आहार लेने जाते, आसक्त होकर नहीं, इसलिए शरीर परिग्रहमें शामिल नहीं है।

(128) शौच, दया व ज्ञानके उपकरणमें साधुकी निष्परिग्रहता— कमण्डल है शौचका उपकरण। अगर शुद्धि न रखे मल मूत्रकी अशुद्धि करके तो पंच परमेष्ठीकी वंदना करके भक्ति आदिक कैसे करे? उसमें अविनयका दोष है और मन भी न लगेगा, इस कारण शुद्धिके वास्ते कमण्डल रखते हैं, उसका ही प्रयोजन संयमकी साधना है, विषय कषायोका पोषण नहीं। पिछी रखते हैं तो वह ह दयाका उपकरण। जहाँ बैठना वहाँ पिछी से पोछकर निर्जन्तु स्थानपर बैठना। कोई चीज धरना उठाना तो पिछी से शोधकर उसे धरना उठाना। विहार कर रहे, धूपमें चले जा रहे, रास्तेमे पेडोकी छाया आती है, तो जहाँ छाया शुरू होगी वहाँ धूपमें वे खड़े रहकर पिछी से पूरा अंग झाड़ते ताकि गर्मी पसंद करने वाला कोई कीड़ा सूक्ष्म जन्तु शरीर पर न रहे, क्योंकि अब छायामें, शीतल स्थानमें जा रहा है। तो गर्मी पसंद करने वाले जंतुको बाधा होगी छायामें। छायामें विहार करके जाना है धूपमें तो वह अपने शरीरको पिछीसे झाड़ पोछकर जाते क्योंकि छायामें रहने वाले कीड़ेकी गर्मीमें पहुँचने पर बाधा होगी। सो उस जीवको मेरे द्वारा बाधा न पहुँचे, कष्ट न हो, यह सोचकर मुनिराज अपने शरीरको पिछीसे पोछते हैं। तो यो जीवदया पालन करने की दृष्टिसे पिछी उपकरणकी आवश्यकता हुई। जीवदयाके लिए, संयम साधनाके लिए मुनिजन पिछी उपकरण रखा करते हैं, न कि शौक या विषय कषायोका पोषण करनेके लिए रखते हैं। अब यदि कोई मुनि पिछीको बहुत अच्छे ढंगसे सजाकर रखे ओर उसकी सुन्दरता को जब चाहे देखे तो वह उपकरणका उद्देश्य न रहा। अब उसका उद्देश्य रागभावके पोषणका बन गया। कोई कमण्डलको बहुत सुन्दर चमकीला डिजाइनदार बढिया चित्रित कराकर रखे तो उसके लिए वह उपकरणका ध्येय न रहा, उसका ध्येय रागभाव पोषनेका रहा। तो जो मुनिजन पिछी कमण्डल रखते हैं वे संयमकी साधनाके लिए रखते हैं, विषय कषाय पोषनेके लिए नहीं। पुस्तक है सो ज्ञानका उपकरण है। पुस्तक न रखें तो पठन पाठन, ज्ञानका अर्जन कैसे करे? तो इन तीन उपकरणोका रखना ममत्व पूर्वक नहीं है। वहाँ रागभाव नहीं है, अन्तमे तो पिछी, कमण्डल पुस्तक आदिकका ग्रहण ये सब छूट जाते हैं और वह आत्मा अपने शुक्लध्यानमें रहता है, किन्तु तब तक आहार विहार पठनकी क्रिया में रहते हैं जब तब केवलज्ञान नहीं उत्पन्न होता है। उन सब क्रियावोको छोड़कर शरीर का सर्वथा ममत्व छोड़कर मुनि अवस्थामें रहकर स्वरूपमें लीन होते हैं तो उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ अवस्था बनती है और फिर ऐसे मुनिजन श्रेणीको प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

(129) अन्यथाप्रवृत्तिमें सर्वज्ञताके लाभकी असंभवता— स्वरूपप्रतिकूलवाली अन्यथा क्रियावोमें रहकर केवलज्ञान न बनेगा। मुनिक्रियामें रहते हुए, भी भावोकी साधना

बन पायगी कि जिससे केवलज्ञान उत्पन्न होगा है। अन्य वस्त्रधारी जटाधारी लाल वस्त्र वाले, श्वेत वस्त्र वाले, उनका यह आशय रहता है कि किसी भी अवस्थाओंमें केवलज्ञान मिल सकता है, और यह कहना मिथ्या है। जब बाह्य में अन्य पदार्थोंके प्रति प्रवृत्ति रही तो वह उपेक्षा कहाँ है जिससे कि मोक्षका मार्ग बना है। यद्यपि श्वेताम्बर मतमें भी निर्ग्रन्थ दिगम्बरको माना है नग्नसाधुको, और उसे जिनकल्पी शब्दसे कहा है, पर उनका कहना यह है कि जिन कल्पी होना, नग्न दिगम्बर होना यह तो उत्सर्ग मार्ग है और वस्त्रादिक रखकर साधुपना साधन करना यह अपवाद मार्ग है। और इससे बढ़ करके फिर और आगे भी शिथिल हो जाते। शिथिलताकी शुरुआत अगर हो जाय तो वह आगे शिथिल ही शिथिल बनता चला जाएगा। तब कहने लगे कि वस्त्र भी उपकरण है, धर्मका उपकरण। और ऐसा चलते-चलते यहाँ तक आ जाते हैं कि काम विकार अगर ध्यानमें बाधा दे तो उसको दूर करने के लिए स्त्री, प्रसंग भी कर सकते हैं। जहाँ शिथिलता शुरु हुई वहाँ फिर उसका नियंत्रण खत्म हो जाता है। शिथिलताकी और बढ़ता है। तो तीन तो उपकरण ठीक है मगर इनके अतिरिक्त यदि किसी चौथी बातको उपकरण मानकर कोई मुनि ग्रहण करे तो उस मुनिमें शिथिलता विशेष विशेष आती ही रहती है। अतः यथाजात निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि ही व्यवहारमें मोक्ष मार्ग है।

जस्स परिग्रहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स ।

सो गरहिउ जिणवयणे परिग्रहरहियो निरायारो ॥ 19 ॥

(130) मुनिवेषमें परिग्रहणकी गर्हितता— जिसके भेषमें परिग्रहको ग्रहण करना बातया गया है, चाहे थोड़ा हो चाहे बहुत हो वह तो जिनागममें गर्हित है, निदनीय कहा गया है। साधु परमेष्ठी एक बहुत ऊँचा पद है जिसकी सर्वलोग वंदना करे, जो विश्वबंध रहे और वह लौकिक पुरुषोंकी भाँति परिग्रहका भाव रखे उसमें यह बात पोषे कि मैं निष्परिग्रह हूँ तो उसमें छलका झी दोष है, लोभका भी दोष है, मानका भी दोष है, क्योंकि अभिमान करेगा अपनेको गुरु मानकर, और ऐसा कोई नहीं मानता तो क्रोध भी पद पद पर आयगा तो ऐसे पुरुषको कषायोंकी तीव्रता है। जिन मतोंमें गुरु मानकर बताया हो इतने पात्र रख लो, जो जो भी आवश्यक हुए शरीरके पोषनेके उन उन परिग्रहोका जो रखना बतावे सो सिद्धान्त अज्ञानियोंका बनाय हुआ है, निन्द्य है, जितेन्द्र शासनमें परिग्रहरहित ही निर्दोष पुरुष को मुनि कहा गया है। कहीं भी दोष बढ़ता है तो मूलमें बहुत छोटा दोष हो पाता है और उसीका बढ़ बढ़कर महादोष बन जाता है जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उनके आगममें किसी साधुको परिस्थितिवश एक वस्त्र की आज्ञा है, दूसरे वस्त्रकी आज्ञा नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय तो भद्रहाबु आचार्य के समय अकालके बाद बना है। दिगम्बरपना पूर्ण रूपसे पहले था ऐसा श्वेताम्बर लोग भी मानते हैं और उनके आगममें भी जिनकल्पी मुनि निर्ग्रन्थ मुनि की उत्कृष्टता बताते हैं। तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिसे कुछ थोड़ी शिथिलता आयी तो एक वस्त्र की बर्ष्मोमुश्किलसे आ सकती है और लिखा भी है स्थावरकल्पी रहे कोई तो एक एक वस्त्र धारण करना होगा। अब एक वस्त्र जब धारण कर लिया कुछ समय बाद एकके बाद दो हो जाये तो वहाँ कौन पूछने वाला है? दो के चार हो गए, फिर 8 हो गए, अब कौन जानने वाला है कि कहाँ क्या लिखा है? और, भगवतीसूत्र आदिमें जहाँ लिखा है उसको लोगोसे बताये नहीं कि आगममें यह लिखा है तो इस तरह बहुत बड़ा दोष चलने लगता है। इसी कारण तो बताया गया है व्रतीको कि अल्प दोष भी न लगना चाहिए। पर थोड़ा सा दोष लगा और मन हो गया स्वच्छन्द तो उस स्वच्छन्द

प्रवर्तनके कारण बहुत बड़े दोष तक पहुँच सकता है। तो जिनके यहाँ परिग्रहका ग्रहण बताया गया है और परिग्रहधारियो गुरु बताया गया है वह जैनशासनसे बहिर्भूत तत्व है।

(131) निर्ग्रन्थ महाव्रती त्रिगुप्तिगुप्त संयमीकी मोक्षमार्गस्थता— जो मुनि 5 महाव्रत करके तो सहित हो, तीन गुप्तियोसे संयुक्त हो वह कहलाता है संयत संयमवान। सो निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है सो ही वास्तवमें वंदनीय है। वंदनीय तो आत्माका स्वभाव है, जहाँ वह स्वभाव पूर्णतया प्रकट है, वह तो देव है, वह वंदनीय है और जहाँ वह स्वभाव पूर्णतया तो नहीं प्रकट है, एक देश प्रकट है और उसके विकासमें ही जिसकी अन्तर्दृष्टि चल रही है वह गुरु कहलाता है, सो गुरु वंदनीय है और ऐसे ही आत्मविकासकी जहाँ बात लिखी हो, उसका उपाय बताया गया हो वह शास्त्र कहलाता है, तो शास्त्र भी वंदनीय है। तो आत्माका स्वभाव निश्चयतः वंदनीय है। वंदनमें नम्रता आती है, नम्रताके मायने झुकाव। तो आत्मस्वभावकी और झुकना, उसे ही हित रूपसे मानना यह बात उनको प्रकट होती है जिनको आत्मस्वभाव विकसित होना है तो उसकी धुनमें रहने वाला पुरुष समस्त बाधक तत्वोको हटाता जाता है और जहाँ सारे बाधक तत्व हट गए बस वही कहलाती है मुनिदशा। जिसको केवल आत्मामें ही प्रयोजन है वह अन्य वस्तु कैसे रख सकता है? उसे मात्र पिछी, कमण्डल, पुस्तक रखना है तो वह सहायक ही है, क्योंकि जीवहिंसा करते अवस्थामें ग्रन्थ कैसे? इसलिए दयाका उपकरण पिछी रखे है। शौचादिक कोई मलमूत्र क्षेपण आदिक करें तो अशुद्ध करें तो अशुद्ध अवस्थामें ग्रन्थ कैसे छुवेंगे? शास्त्र पढ़ना, देव वंदन करना आदिक ऊँची-ऊँची क्रियाये कैसे उस अशुद्ध अवस्थामें करेंगे? तो शौचका उपकरण कमण्डल रखे हुए है और ज्ञानमें कैसे रमें, यह सबसे ऊँचा उपकरण है, सो शास्त्र रखते है, मगर इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य बातसे प्रयोजन नहीं। अगर तिल तुष मात्र भी अन्य चीज रखें तो उसका प्रयोजन सिर्फ राग है, और कोई प्रयोजन नहीं। तो जो पंच महाव्रतकर सहित हो, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन 5 पापोंका सर्वथा त्यागी हो, मनको वश करना, वचनको वश करना, शरीरको वश रखना, इन तीन गुप्तियोसे सहित हो वही निर्ग्रन्थ स्वरूप है और वही वंदना किये जाने योग्य है, और जो कुछ भी थोड़ा बहुत परिग्रह रखते है वे महाव्रती नहीं, संयमी नहीं, मोक्षमार्गी नहीं, बल्कि गृहस्थके बराबर भी नहीं। गृहस्थ तो परिग्रह रखकर अपनेको गृहस्थ मानते है, श्रावक समझते है, गुरुपनेका अभिमान तो नहीं रखते, पर कोई परिग्रह रखकर गुरुपनेका अभिमान रखता है तो वह गृहस्थसे भी बुरा है। तो जैन शासनमें एक निर्ग्रन्थ गुरु ही वंदनीय है।

दुइयं च उत्त लिगं उक्किट्टं अवरसावयाणं च ।

भिकखं भमेइ पत्तें समिदीभासेण मोणेण ॥ 21 ॥

(132) उत्कृष्ट श्रावकोंका जैनशासनमें द्वितीयलिङ्ग— वंदनीय प्रथम लिङ्ग है मुनि का, दूसरा लिङ्ग वंदनीय है उत्कृष्ट श्रावकका उत्कृष्ट श्रावक है क्षुल्लक, ऐलक, अर्जिका, उन्हे गृहस्थ नहीं कहा जा सकता। श्रावक और गृहस्थमें अन्तर है। गृहस्थ तो तब तक कहलाता है जब तक कि वह घरमें रह रहा है। घरका सम्बन्ध है, पर जिसका घरका सम्बन्ध नहीं रहा, त्याग कर दिया और श्रावकके ऊँचे व्रतोका पालन करता हुआ रह रहा उसे गृहस्थ नहीं कहा जाता, उसे उत्कृष्ट श्रावक कहा जाता। सो ऐसा उत्कृष्ट श्रावक 11वीं प्रतिमाका धारी है। वह घूमकर भिक्षावृत्तिसे चर्याकर आहार ग्रहण करता है, और जो ऐलक उत्कृष्ट श्रावक है वह अपने हाथमें ही भोजन करता है, पात्र भी ग्रहण नहीं करता और समितिरूप अपनी प्रवृत्ति रखता है। भाषा समितिका आलम्बन रखता है अथवा मौन ग्रहण करता है। तो मुनिका स्वरूप तो यथाजात है और उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकारके है—

एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। क्षुल्लक तो सिर्फ वस्त्र और कोपीन धारण करता है, भिक्षाभोजन करता है और ऐलक उत्कृष्ट श्रावक करपात्र भोजन करता है और समितिरूप प्रवृत्ति रखता है। उद्देश्य मुनिका और उत्कृष्ट श्रावकका एक ही है। अपना जो शाश्वत स्वरूप है उस रूप अपनेको अनुभवना, सबका एक ही लक्ष्य है। मोक्षमार्ग एक ही है, अपने सहज स्वरूपका आलम्बन। चाहे वह अपने मुनि भेषमें आगे बढ़ रहा हो, चाहे श्रावक वेषमें ही चल रहा हो, पर लक्ष्य सबका एक ही रहता है। जैसे शिखर जी की यात्रा अनेको लोग पैदल करते हैं तो जो हट्टे कट्टे जवान लोग होते हैं वे तो आगे बढ़ जाते हैं और जो बूढ़े कमजोर लोग होते हैं वे धीरे-धीरे पीछेसे पहुंचते हैं, पर लक्ष्य उन सबका एक ही है—शिखरजी की वंदना करना ऐसे ही जो मोक्षमार्गमें चल रहे हैं, श्रावक पीछे-पीछे हैं, मुनिजन आगे आगे बढ़ रहे हैं, पर लक्ष्य सबका एक है कि आत्माका जो एक ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है उस रूप ही रहना, रागद्वेषकी तरंग न आने देना, ऐसी वे अपनी भावना रखते हैं।

लिंग इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडी सुएयकालम्भि ।

अजिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥ 22 ॥

(133) आर्थिकाका जैनशासनमें तृतीय लिङ्ग— तीसरा लिङ्ग है स्त्रीका अर्जिकाका। वे भी दिनमें एक ही बार भोजन करती हैं। एक वस्त्र धारण करती हैं और किसी भी समय वे नग्न नहीं होती। स्त्रीका नग्न रूप निषेध है, वह श्रावक तक ही रह सकती है, उसका साधु परमेष्ठीका दर्जा नहीं हो सकता। तो 11 वी प्रतिमामें स्त्री कोई क्षुल्लिका होती है कोई अर्जिका होती है, सो भोजन तो एक ही बार है पर वस्त्रका अन्तर है। अर्जिका एक वस्त्र धारण करती है और क्षुल्लिका दो वस्त्र धारण करती है, और इनको अपने पदमें अभिमान नहीं होता। स्त्री पर्यायकी निन्द्यता उनके चित्तमें रहती है। स्त्री पर्याय अच्छी पर्याय नहीं, उससे विरक्त रहती है। तो जिसको स्त्री पर्यायसे विरक्त है, वह उसमें अभिमान कैसे कर सकती है? भले ही आज कुछ ऐसा देखा जाता कि स्त्री अगर क्षुल्लिका, अर्जिका बन जाय तो उसे अभिमान अधिक हो जाता है, पर यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। पुरुष इतना अभिमान नहीं करता ऊँचा व्रत लेने पर भी जितना कि प्रायः स्त्रीजनोमें देखा जाता है जो स्त्रियाँ योग्य हैं वे तो अभिमान नहीं करती, पर बजाय स्त्री पर्याय निन्द्य है ऐसा समझनेके अज्ञानी स्त्री अपने उस पदमें अभिमान रखती हैं। और यथातथा गृहस्थसे व्यवहार रखती हैं। तो जो अर्जिका है क्षुल्लिका है, सम्यग्दर्शन सहित है उसको अभिमानका प्रसंग नहीं है। वह तो निरन्तर लिङ्ग रहित आत्मस्वरूपकी भावनामें अपना समय व्यतीत करती है। तो ऐसा तीसरा लिङ्ग है यह स्त्रीका।

ण वि सिज्जइ वत्थधरो जिणसासण जइ वि होइ तित्थयरो ।

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ 23 ॥

(134) सवस्त्रमुनियोको उन्मार्गरूपता — जैन शासनमें वस्त्ररहित आत्माकी उपासनकी धुन वाले पुरुष ही वंदनीय कहे गए हैं। जो वस्त्रका धारण करने वाला हो वह मोक्ष नहीं पा सकता। तीर्थकर भी हो और जब तक वे वस्त्रधारी हैं, गृहस्थ हैं तब तक उनका भी मोक्ष नहीं होता। वे भी साधुदीक्षा लेते, निर्ग्रन्थ होते, दिगम्बर रूप धारण करते और उस स्थितिमें आत्मसाधना बनाते और शुक्लध्यान प्रकट होता तब उनका मोक्षपना बनता। तो इस कारण दिगम्बर स्वरूप ही मोक्षका लिङ्ग है। बाकी अन्य सब लिङ्ग उन्मार्ग है, मार्गसे विपरित है। तीर्थकरोका नग्न होना श्वेताम्बर शास्त्रोमें भी बताया है। सर्व तीर्थकर

नग्न अवस्थामें ही रहते हैं। पर जिनसे नग्नता नहीं सही गई ऐसे साधुजनोने अपनी ही बात दुनियामें प्रशंसनीय रखने के लिए लिख दिया है कि होते तो वे नग्न ही हैं मगर इन्द्र उनपर एक वस्त्र डाल देता है। तो नग्नता यह मोक्षमार्ग है। अन्दरसे भी नग्न हो मायने रागद्वेष विकार इससे दूर हो ओर बाहरसे वे नग्न हैं ही तो ऐसे द्विविधनग्न पुरुष को मोक्ष होता है। नग्नके मायने है कि बाहरी चीजोंका सम्पर्क न रखना। खालिस अकेला ही रह जाना। जैसे शरीर। केवल शरीर ही रह गया, उसपर वस्त्र नहीं, किसी पदार्थका संयोग नहीं तो वह नग्न कहलाता है। तो अध्यात्मनग्न कौन कहलाया कि जहाँ दर्शन ज्ञान स्वरूपी यह अंतस्तत्व अपने ठीक स्वरूपमें रहे, इसमें विकारका प्रवेश न हो, किसी प्रकारका योग तंरग न आये, ऐसी स्थिति का नाम अध्यात्म नग्नता। तो जो पुरुष अविकार है, अपने स्वरूपकी धुनमें बसा है वह पुरुष तो मोक्षमार्गी है, पर जो बाह्य पदार्थोंके विकल्पमें लगा है, वस्त्रादिक अल्प परिग्रह धारण किए हो वह सब उन्मार्ग कहलता है।

लिंगम्भि य इस्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।

शणिओ सुहमो काओ तारिं कह होइ पव्वज्जा ।। 24 ।।

(135) स्त्रियोंके प्रवज्याके अनधिकारका कारण — स्त्रियोंको दीक्षा नहीं दी जाती याने मुनिदीक्षा स्त्रियोंको नहीं मिलती, उसका कारण क्या है कि स्त्रीका शरीर ही ऐसा है कि जो हिंसाका धाम है। स्त्रीकी योनिसे, स्तनोके अन्दरसे, काँखोंमें सूक्ष्म कायके जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। जो लब्धपर्याप्तक असंख्यात मनुष्य बताये गए हैं वे स्त्रीके शरीर के आधार ही बताये गए हैं। तो जहाँ ऐसे सूक्ष्म काय दृष्टिके अगोचर जीव उत्पन्न होते रहते हैं उन स्त्रियोंके प्रवज्या कैसे हो सकती है। वज्रवृषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन और अर्द्ध नाराचसंहनन इनमें से मोक्ष होता है वज्र वृषभनाराचसंहनन वालेका। तो जिसके दूसरे तीसरे भी संहनन नहीं हैं, पहलकी तो कथा ही क्या कहे, वहाँ मोक्ष कैसे हो सकता है? यह तो करणानुयोगका सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त लज्जा और माया ये दो बातें स्त्रीमें स्वभावतः हैं। उसके ऐसी निर्विकल्पता आ ही नहीं सकती कि वह नग्न भी हो सके। वह स्वयं नग्न न होगी और कोई ढीठ पुरुष मानो ऐसा काम करे तो वह जैन शासनसे बहिर्भूत है। तो स्त्रीजनोंके मुनि दीक्षा नहीं कही गई। तो ये क्षुल्लिका अर्जिकाके पद उत्कृष्ट श्रावकमें ही माने गए। तो इस तरह जैन शासनमें तीन लिङ्ग वंदनीय कहे—(1) मुनि (2) क्षुल्लिक ऐलक याने 11 प्रतिमाधारी श्रावक पुरुष और (3) अर्जिका। ये तीन लिङ्ग वंदनीय हैं। क्षुल्लिक ऐलक मायने 11वीं प्रतिमा और क्षुल्लिका अर्जिका मायने 11वीं प्रतिमा।

(136) गुरुताके त्रिलिङ्गके अतिरिक्त अन्य वेशोकी आत्मविकासानुरूपता—तीन लिङ्ग यो समझना —(1) मुनि, (2) उत्कृष्ट श्रावक पुरुष और (3) उत्कृष्ट श्राविका स्त्री इनके अतिरिक्त जो अन्य-अन्य तरहके दुनियामें भेष चल रहे हैं वे वंदनीय नहीं। जैसे तापसी लोग, अनेक प्रकारके संन्यासी जन भभूत लगाकर, सिरमें जटाये बाँधकर, वनमें रहकर, कुटीमें रहकर वनफल भक्षण कर तपश्चरण तो बहुत करते हैं किन्तु बारही पदार्थके लगाव पर उनकी दृष्टि चल रही है, देहको ही उन्होंने साधु माना है। और देहके तपश्चरण भेषभूषामें मोक्षमार्ग समझा है। कितने ही लोग महीनो खड़े ही खड़े तप करते हैं, कोई औंधें होकर तप करते हैं, कोई पेड़से पैर लटकाकर तप करते हैं, कोई कोई तो वृक्षके किनारे खड़े खड़े सो लेते हैं पर बैठते नहीं, न लेटते हैं। यो कितने ही कठिन कठिन श्रम करते हैं, पर सरल जो अंतस्तत्व है उसकी दृष्टि न होनेसे उनकी बाह्य बात भी सरल नहीं हो पाती तो अविष्कार अंतस्तवकी जिसे दृष्टि प्राप्त हुई है वह शरीरमें भी विकार नहीं करता। किसी दूसरे पदार्थका लेप करना यह शरीरमें विकार करना है। यथाजात लिंगं बस त्याग

यह ही जिसकी धुन है, घर ममत्वका आश्रय है, घरका त्याग किया, परिजन ममत्व के आश्रय होते हैं उनका त्याग किया, कुटुम्ब देश जन मित्र जन जो जो भी उसे बाधक जंचे आत्मतत्त्वको छोड़कर बाकी परद्रव्य सब बाधक जंचते हैं उनको त्यागता है। हाँ जो आत्मविश्वास कर चुके आत्मविकासमें चल रहे उनकी भक्ति अवश्य रख रहे, कब तक? जब तक इसके सविकल्पता है और वह भी रख रहा है अविकार स्वरूपके विकासकी भावनासे तो जो मुमुक्षु साधुजन है उनका अभिप्राय मात्र आत्मविश्वासका है, अन्य कुछ लौकिक चाह नहीं है। ख्याति लाभ पूजा प्रतिष्ठा आदिककी चाहसे वह बहुत दूर है। दुनियामें नाम कराना और उस स्वागत आदिकमें हर्ष मानना ये सब बहुत तुच्छ बातें हैं। यह मुनि जनोमें होती ही नहीं, तो ऐसे ही मुनिपना एक प्रभुके बादका हल्का पद है। वह तो निर्दोष ही होना चाहिए। जिसको निरखकर श्रावक उपासक यह समझ सके कि मोक्ष मार्ग तो यह है। तो इस तरह इन तीन लिङ्गोंमें रहकर यथाशक्ति ये मुमुक्षु आत्मा उपासना करते हैं और मोक्षमार्गमें अपनी प्रगति बनाते हैं।

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता ।

घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥ 25 ॥

(137) सम्यग्दृष्टि मार्गसंयुक्त महिलाओकी निष्पापता— अनंतरपूर्व गाथा में बताया था कि स्त्रियोंके देहमें, योनिके मध्य भाग कक्ष आदिकमें सूक्ष्म काय वाले जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, ऐसी स्त्रियोंको दीक्षा कैसे ही सकती है? इसपर यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है तो क्या स्त्रियाँ अपना कल्याण नहीं कर सकती? उसीके समाधानमें यह गाथा कही जा रही है कि स्त्रियों में जो स्त्री यथार्थ जैन दर्शनकी श्रद्धा करके शुद्ध है अर्थात् जिसके विपरीत अभिप्राय नहीं रहा, सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है और सम्यक्से संयुक्त है, जैन दर्शन के चरणानुयोगके अनुसार अपनी चर्यामें प्रवृत्ति रहती है और आत्मस्वरूपता ध्यान रखती है एवं घोर चारित्र तपश्चरण आदिक करके पापरहित है सो वह स्त्री भी पापी नहीं है किन्तु आत्मकल्याण करनेमें वह समर्थ है। इस प्रकरणमें यह बात जानना कि मोक्ष मिले इस योग्य तो पुरुषार्थ स्त्रीसे नहीं बन पाता, फिर भी आत्मकल्याणके लिए यथासंभव उसका पुरुषार्थ बनता है और कितनी ही स्त्रियाँ तो द्रव्यलिङ्गको छेदकर स्त्रीलिंगसे छूट जाती हैं और शीघ्र ही कुछ ही भवमें मनुष्यभव पाकर दिगम्बर मुनि मुद्रामें आत्मध्यानकी साधना करके मोक्षकी भी पा सकेंगी। इससे स्त्री भी कल्याणकी अधिकारी है। श्रावककी जो 11 प्रतिमाये बतायी है उनका उत्कृष्टसे उत्कृष्ट आचरण कर लेती है। 11वी प्रतिमाके जो दो भेद हैं—(1) क्षुल्लक, (2) ऐलक, अर्जिका ऐलकके रूपमें है इतने पर भी चूँकि स्त्री पर्याय में है, उस ही ढंगका देह हे तो शिथिलता बर्तती है, इसलिए स्त्रियाँ मोक्षकी अधिकारिणी नहीं हो पाती और मुनिदीक्षा लेनेके योग्य भी नहीं है।

चित्तासोहि ण तेसि ढिल्लं भांव तहा सहावेण ।

विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया ज्ञाणा ॥ 26 ॥

(138) स्त्रियोंके समुचित ध्यान न हो सकनेका कारण चित्ताविशुद्धि —इस गाथा में कहा जा रहा है कि स्त्रियोंके ध्यानकी सिद्धि नहीं है। उनके उत्तम ध्यान नहीं बन पाता, उसका कारण है कि स्त्रियोंके चित्तमें विशुद्धि नहीं बनती। दूसरा कारण है कि वे स्वभावसे ही शिथिल परिणाम वाली हैं। तीसरा कारण यह है कि मासिकधर्मकी शंका सदा बनी रहती है। इस कारण स्त्रियोंके उत्तम ध्यान नहीं बन सकता, उनके चित्त शुद्धि नहीं होती, ऐसा जो यहाँ कहा है इससे यह जाहिर होता है कि जो मायाचारका अनेको जगह

कथन आता है उसके कारण स्त्रियोंके चित्त में शुद्धि नहीं बनती और उनका मायाचार उस भवमें उनकी प्रकृति ही चल रहा है। इसका तो उदाहरण तक भी दिया है अरंहत भगवान के विहार आदिक वाले कि अरंहत भगवाने इच्छा नहीं है फिर भी उनका विहार होता है, ऐसा ही स्वभाव है, प्रकृत्या होता है, जैसे कि स्त्रियों में समाचार प्रकृत्या होता है। स्त्रियो मायाचारकी प्रकृत्यज्ञतापर दृष्टान्तमें लिया गया है याने मायाचार करना स्त्रियोंके लिए बड़ी सुगम बात है। उनकी कोई उस भवकी देन हे कि जो मायाचारी छल कपटकी बात जरासी देरमें बना सकती है। कोई स्त्री मान लो कम छल कपटमें रहती है, न भी करे तो भी भीतरका संस्कार उस भवमें मिटता नहीं है, इस कारण चित्तकी विशुद्धि उतनी नहीं हो सकती जो मोक्षकी अधिकारिणी बन सके। और मोक्षके लायक उत्कृष्ट ध्यान बन सके।

(139) स्त्रियो समुचित ध्यान न हो सकनेका द्वितीय व तृतीय कारण— स्त्रियो के ध्यान समीचीन न होनेका दूसरा कारण हे कि उनके स्वभावसे ही शिथिलता है। शरीर की कोमलता, भावोकी शिथिलता, इससे भी उत्तम ध्यान नहीं बनता। यद्यपि इसका कुछ अपवाद भी है याने अनेक स्त्रियाँ ऐसी दृढ़ परिणाम वाली हुई है कि जो एक आदर्श है फिर भी स्त्री पर्याय जन्य कुछ न कुछ बात अन्दर रहती ही है। जैसे एक चक्रवर्तीकी लड़की जो अगले भवमें लक्ष्मणकी स्त्री विशल्या बनी वह पहले भवमें चक्रवर्तीकी लड़की थी और उसे विद्याधर हर ले गया। पीछेसे सेना भी दौड़ाई गई तो वह विद्याधर डरके मारे उस कन्याको एक भयानक जंगलमें छोड़कर चला गया। उस जंगलमें खाने-पीनेका कुछ ढंग ही न था और न कोई उस जंगलमें ढूँढ सकनेमें समर्थ था, वहाँ वह दृढ़तापूर्वक रही और उपवास आदिक किया, कुछ हजार वर्ष तक ऐसे ही उसको समय गुजारना पडा। एक दिनका संयोग कि बहुत ढुढावे पड़ रहे थे। तो एक बार स्वयं उसका पिता उसी वनमें पहुँचा और तब एक अजगरने उस कन्याको ग्रस लिया था। आधा अंग ग्रस चुका था इतनेमें वह पिता पहुँचा और उसने उस अजगरके टुकड़े करना चाहा ताकि कन्याको जीवित निकाला जा सके, मगर वह कन्या हाथ उठाकर विनती करने लगी कि आप इसे न माने, इसको अभयदान दीजिए। तो स्त्रियो अनेक दृढ़ परिणाम वाली स्त्रियाँ उत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। तीसरा कारण है मासिकधर्म। उसकी शंका रहती है और उस शंका के कारण, उस और भीतरी संस्कारके कारण उनका ऊँचा ध्यान नहीं बन सकता और उत्तम ध्यान बने बिना केवलज्ञान कैसे होगा और कवेलज्ञान हुए बिना मोक्ष कैसे होगा? इससे उनको मुनिदीक्षाका अधिकार नहीं, फिर भी जैसे पूर्व गाथामें बताया कि जो स्त्री सम्यग्दर्शन से संयुक्त है, तपश्चरण आदिक भी करती है वह पापका नहीं कही जाती।

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण ।

इच्छा जाहु णियता ताह णियताइं सव्वदुक्खाइं ॥ 27 ॥

(140) मुनिजनो द्वारा ग्राहा पदार्थोंमें भी अल्पग्रहाता— मुनिजन जो आत्माके अर्थी है, आगमके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रखते है उनकी मुख्य वृत्ति यह है कि ग्राहा पदार्थ को भी बहुत अल्प ग्रहण करते है। जितना ग्राहा है उससे भी अल्प ग्राहा रहते है। जैसे आहार आदिक वस्तु जो कि ग्रहण किए जाने योग्य है उन्हे भी थोडा ही ग्रहण करते हे। जैसे कि कोई समुद्रमें से प्रयोजन माफिक वस्त्रप्रक्षालन आदिकके लिए थोडा ही जल ग्रहण करता है ऐसे ही मुनि महाराज अपना जीवन रखनेके लिए और वह भी जीवन संयमके लिए थोडा आहार ग्रहण करते है, उनकी इच्छा दूर हो गई है इससे उसी समय सारे दुःख दूर हो गए, और आगे दुःख मूलतः दूर होंगे ही। जिसको सन्तोष है सुखी वह ही कहलाता है। बाहरी पदार्थ कितने ही किसीके पास हो और सन्तोष नहीं है तो वह सुखी नपही है। और

जिस ही समय किन्ही बाहरी पदार्थोंकी इच्छा हो जाय, तृष्णा हो जाय तो उसका सन्तोष खत्म नहीं है तो वह सुखी है और इस कारण वह दुःखी हो जाता है। वस्तुतः तो सन्तोषी ही सुखी है। तो मुनिके अब इच्छा नहीं रही, विषय सम्बन्धी इच्छा तो रंचमात्र भी नहीं है, वह देहसे भी विरक्त है इस कारण उसे उत्कृष्ट संतोष है। तो ऐसे उत्कृष्ट संतोष वाला साधु जब कभी ग्राह्य आहारको ग्रहण करे तो वह अल्प ही ग्रहण करता है, क्योंकि उसे परम संतोष है। और जो परम संतोषी है वह परम सुखी है। यह संतोष उस मुनिको मिला कैसे? तो जिनसूत्रके श्रद्धानसे प्राप्त हुआ है।

(141) विवेकियोका तृतीय नेत्र परमागम— आगमसे सब जाना अपने आत्माका स्वरूप और अनुभवसे परखा और एक निर्णय बनाया कि हमको तो मात्र आत्मस्वरूपमें मग्न होना है, दूसरा मेरे करने लायक कुछ नहीं। तो ऐसा आगमका श्रद्धान होनेसे उनका यह दृढ़ निर्णय हुआ कि जो आगममें बताया है उस विधिसे अपनी चर्या रहे तो मुक्तिका लाभ हो सकता है। तो मुक्तिके मार्गमें विशेषतया लगनेका कारण है आगमका अभ्यास। आगम तो नेत्र बताया गया। जैसे कोई पुरुष नेत्रहीन हो तो वह यथेच्छ गमन नहीं कर सकता ऐसे ही जो पुरुष आगमहीन है वह आत्मकल्याणके मार्गमें गमन नहीं कर सकता। देखने वाला पुरुष आँखों से मार्ग को शोघता हुआ बड़े आरामसे गमन करता है ऐसे ही आगम का जिसको ज्ञान है ऐसा संत पुरुष हित अहित, हेय उपादेयका भले प्रकार निर्णय करके अपनी चर्यामें प्रवृत्त होता है। तो आगम नेत्र बिना यह जगत अंधा है, इस कारण जिनको मुक्तिमार्गमें चलना है उनका यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे जिनशासनका, आगमका भले प्रकार अभ्यास करें।

(142) चारों अनुयोगोके अभ्यासे मार्गकी स्पष्टता — यह आगम चार अनुयोगरूप है। चारों ही अनुयोगोंमें आत्माको स्वभावकी और लगनेकी प्रेरणा मिलती है। प्रथमानुयोग में जब महापुरुषोंके चरित्र जाना कि कैसे उनका जीवन चला, कैसे वे इन बाह्य पदार्थोंसे विरक्त हुए और सदाके लिए शान्ति प्राप्त की। खुदके लिए भी उमंग जगती है कि मैं भी सर्वसे विरक्त होकर अपने आपमें शान्तिका लाभ लूँ। करणानुयोगका जब अध्ययन चलता है और कर्मोंकी दशाका बोध होता और उसके अनुसार आत्मामें जो प्रतिफल है उसकी असारता जानी जाती ये सब कर्मसे भिन्न है तब परभावसे उपेक्षा होकर शाश्वत स्वभावमें उसकी दृष्टि लगती है। चरणानुयोगमें तो वह स्पष्ट अनुभव करता है कि बाह्य पदार्थोंका परिहार करनेसे व्यक्त विकारका अभाव होता है और इस उपायसे व्यक्त विकारको दूर करनेके पश्चात् इस ही ज्ञानदृष्टिके बलसे अव्यक्त विकार भी दूर हो जाते हैं। तो चरणानुयोगकी वृत्तिसे उसने अपना हित पंथ निर्णीत किया। द्रव्यानुयोग दो भागोंमें विभक्त है—(1) दार्शनिक शास्त्र और (2) आध्यात्मिक शास्त्र, और दोनों ही एक दूसरेके पूरक हैं, अगर अध्यात्मका लाभ नहीं है तो दर्शनशास्त्र पढ़नेका लाभ क्या? और दर्शनशास्त्रका बोध नहीं तो अध्यात्म तत्वका सयुक्तिक निर्णय नहीं बन पाता। तो अंतस्तत्वका भली-भाँति निर्णय करके यह जीव आत्मकल्याणमें प्रवृत्त होता है। यह द्रव्यानुयोगके अध्ययनका फल है, तो इस प्रकार आगमके अभ्यासका बहुत बड़ा महत्व है, उसके बिना कुछ भी सिद्धि नहीं हो सकती। यद्यपि भले ही कुछ मुनियोंने जिन्होंने विशेष अभ्यास नहीं किया, केवल अष्ट प्रवचन मात्रका ही जिनको बोध था वे भी संसार से तिर गए। वे भी जब क्षपक श्रेणीमें आये होंगे तो श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम बहुत बढ़ता था। उस समयके लिए आगमका बोध हुआ ही होता और ऐसे विरले ही पुरुष हैं। बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ तो आगमके

अभ्यासका किया जायगा, सो आगमका अभ्यास करके अपने आपको हितपंथमें लगाना यह इस जीवनका सर्वोपरि कार्य है।

(143) आगमज्ञानके पौरुशमें सूत्रपाहुडकी परमभक्ति— यह सूत्रपाहुडकी अंतिम गाथा है। सूत्र मायने आगम। आगमके विषयमें बहुत कुछ वर्णन करके यह द्वादशागमें आगम है और इससे भी कुछ और आगम है जिसे अंगबाह्य कहते हैं। इस कारण आगमका बहुत बड़ा विस्तार है। उस आगमके पूर्ण पाठी श्रुतकेवली होते हैं। उस आगममें जो विषय है उसके अभ्यासी श्रुतकेवलीके मुखसे जैनाचार्य मुनियोने उपदेश सुना, उसके अनुसार शास्त्र भी रचे गए हैं और आज जो शास्त्र अध्ययनमें आ रहे हैं वे सब द्वादशांग वाणीकी वस्तुके विषय हैं। उस यथार्थ तत्वका ज्ञान करके अपनेको अपने अन्तः स्वरूपका मनन करना है। बाह्य पदार्थविषयक समस्त विकल्पोका त्याग करना है। यही इस सूत्रपाहुडकी उत्तम भक्ति है। अन्य आगमसे वास्तविक निवृत्ति प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि इस आगमसे जैनशासन वस्तुका स्वरूप यथार्थ बताया है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त है। उत्पाद व्यय करना भी स्वभाव है, आत्मामें भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। तो उत्पाद व्यय वाली अवस्थासे नेह लगाकर, उसे ही सर्वस्व शरण समझकर उसमें ही अंटक जाना, यह ध्येय न होना चाहिए, किन्तु अपना परिणमन बनाना चाहिए। इन सब बातोंके लिए आगमका अभ्यास अध्ययन द्वारा, पठन पाठन द्वारा, स्वाध्याय द्वारा, तत्वचर्या आदिक द्वारा अभ्यास बढ़ाना। यह आगमका अभ्यास हम सबको सन्मार्ग प्रकाशित करेगा।

॥ सूत्रपाहुड प्रवचन समाप्त ॥